I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

सितंबर-अक्टूबर 2023 * भाग 39 - अंक 5

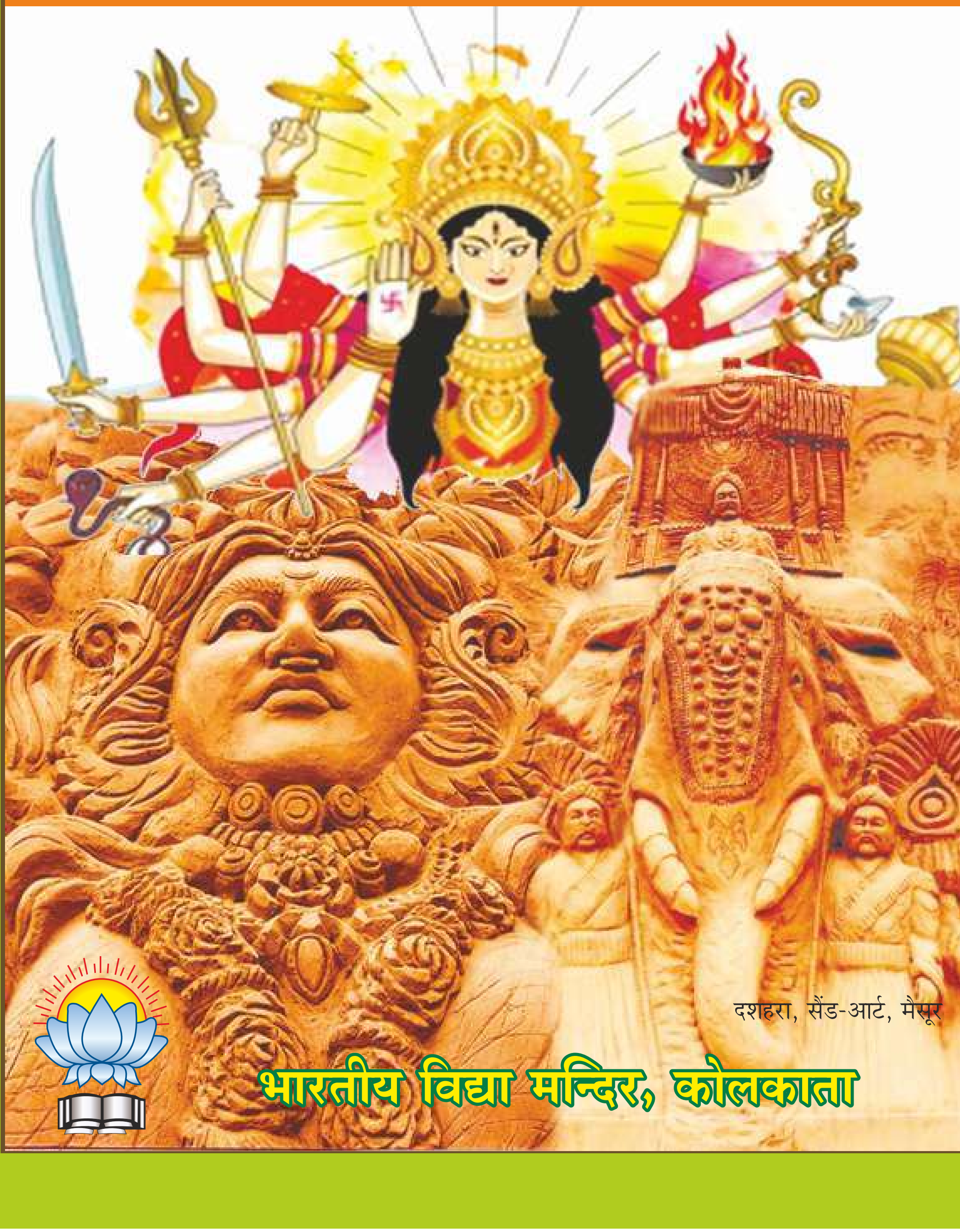

दशहरा, सैंड-आर्ट, मैसूर

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

म्यूजियम ऑफ इस्लामिक आर्ट दोहा (कतर) में दक्षिण भारत की 17वीं शताब्दी की रत्न जड़ित रुक्मिणी, कृष्ण, सत्यभामा की मूर्तियां

महासदाशिव प्रतिमा, थआनुमालय स्वामी मंदिर सुचिन्द्रम तमिलनाडु

शरद पूर्णिमा के चंद्र के प्रकाश में भगवान कृष्ण का गोपियों संग महारास का सुंदर चित्रण, झालावाड़ पुरातत्व संग्रहालय, भित्ति चित्रण

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

ISSN 0975-6531

वैचारिकी

भाग : 39 अंक : 5

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यता प्राप्त

सितंबर-अक्टूबर, 2023 ईस्वी ✷ भाद्रपद कृष्ण 2, कार्तिक कृष्ण 3, वि. सं. 2079-80 ✷ ₹ 70/-

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 3
- **संपादकीय** 6
- **परम्परा की अवधारणा**
  प्रो. ए. अच्युतन 13
- **प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मानवाधिकार : एक विमर्श**
  अरुण कुमार 18
- **स्वामी विवेकानंद : दलितोत्थाना के प्रथम मसीहा**
  कमल किशोर गोयनका 22
- **वर्ण व्यवस्था में कायस्थों का स्थान**
  डॉ. मृणालिनी सोमनाथ 31
- **वाल्मीकीय रामायण के समय स्त्री**
  डॉ. (श्रीमती) अरुणा - अरविंद कुमार 38
- **पुराणों में नारी**
  डॉ. नीमा जोशी 42
- **श्रीकृष्ण के पश्चात यदुवंश का राज्य-विस्तार**
  वेणु गोपाल शर्मा 45
- **सारस्वत ब्राह्मण रावण वंशी हैं : एक भ्रामक अवधारणा**
  डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा 49
- **चतुरसेन के उपन्यासों में बुद्ध-कालीन व्यवसाय-कला**
  डा. रामस्नेहीलाल शर्मा 'यायावर' 52
- **सोलह संस्कार : परम्परा और विमर्श**
  श्रीमती डिम्पल जैसवाल 58
- **तिरुक्कुरल के सुभाषित**
  प्रो. राजेन्द्र गर्ग 71
- **समकालीन हिन्दी कविता में सामाजिक-धार्मिक अन्तर्विरोध**
  डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय 75
- **नाटककार प्रेमचंद**
  डॉ. कंचन शर्मा 83
- **पाठक-मंच** 88
  क्या साहित्य की 'संजीवनी' सूख रही है?, भारत
- **'हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान' पुस्तक का लोकार्पण** 94

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर

12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी

कोलकाता-700 087

दूरभाष : 033-71001614

मो. : 09830559364

ई-मेल : bvm.vaichariki@gmail.com

Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 400/- रुपये

द्वैवार्षिक 800/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:

BHARATIYA VIDYA MANDIR

Current A/c No. : 32030320176

Bank : STATE BANK OF INDIA

Branch: New Market

IFSC Code No. : SBIN0004662

अध्यक्षीय

दुनिया में यह बहुत उलट-फेर का समय है। रूस और यूक्रेन का युद्ध तो हो ही रहा है, इजराइल और हमास का युद्ध भी आरंभ हो गया है और यह भयंकर रूप ले रहा है। रूस-यूक्रेन युद्ध का उद्देश्य समझ से बाहर है। इसके इतिहास को देखें तो यह त्रासदी मनुष्य की प्रवृत्ति की आसुरी पूर्ण रूप से परिचायक है। यूक्रेन क्यों नाटो में शामिल होना चाहता है। नाटो ऐसे ही काफी बड़ा है। रूस को घेरने के लिए नाटो देशों ने जोर लगाया। रूस कहता है कि मैं आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा हूं, नाटो ने मेरे ऊपर गलत दबाव बनाया है। रूस ने पूरी तरह से यूक्रेन को ध्वंस कर दिया। परमाणु बम के विस्फोट के अलावा उसने सब तरह के घातक हथियारों का उपयोग किया है जिससे हजारों-हजार मनुष्यों की बलि हो गई। यह युद्ध आज भी चल रहा है। युद्ध में जो भी देश शामिल हैं उन्हें क्या प्राप्त हुआ? लगता है कि दुनिया से सह-अस्तित्व की भावना धीरे-धीरे विलुप्त हो रही है। इसी तरह से फिलिस्तीन और इजराइल का युद्ध हो रहा है। वे शांति से अपने-अपने क्षेत्र में रहकर विकास कर सकते थे, लेकिन बार-बार उस क्षेत्र में युद्ध हो रहे हैं। यहूदी जाति ने अपने आपको संगठित कर लिया। चीन की सहमति से इजराइल का निर्माण हुआ चाहे वह सहमति किसी भी कारण से हुई हो, लेकिन उतने वर्षों से यहूदी वहां बस तो रह रहे ही हैं। मैं इतिहास की बारीकियों में नहीं जाना चाहता, न किसी के पक्ष-विपक्ष में बोलना चाहता हूं। मैं यह कहना चाहता हूं कि यह पृथ्वी सब मानवों के लिए है, क्या हम शांतिपूर्ण ढंग से रहकर मानव जाति का विकास नहीं कर सकते? जितना हमें प्राप्त है, हम उसमें रहकर भी तो विकास कर सकते हैं, पर बार-बार कुछ देश दूसरे देशों की जमीन को हड़पने के लिए 50 तरह के कुचक्र रच रहे हैं। हम भारतीय कभी भी दूसरे देशों के बीच हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। हम शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना के साथ अपना देश का विकास करना चाहते हैं। कुछ देशों को यह सहन नहीं है, पता नहीं क्यों?

हमारे अंदर भी कुछ लोग हैं जो कि देश के विकास में भाग न लेकर सनातन संस्कृति के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। यह तो ऐसी ही बाते हुई जैसे कि हम जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को काट रहे हैं। यह मानसिकता समझ से परे है। हम यह जानते हैं कि हमें रहना है इसी क्षेत्र में, एक-दूसरे को दबाकर हम न शांति से रह सकते हैं और न अपना विकास कर सकते हैं। हम दूसरों की--अपने भाई की-- प्रगति को देखकर ईर्ष्यावश घर के एक भाग में आग लगा

देते हैं। इससे हम भी जल जायेंगे, ऐसी समझ हम क्यों नहीं रखते हैं?

पांडवों ने प्रगति कर ली, दुर्योधन उसके साथ सह-अस्तित्व की भावना से रहता तो महाभारत जैसा युद्ध होने का कोई कारण ही नहीं होता। आपस में सह-अस्तित्व की भावना से विलग रहने के कारण महाभारत जैसा विनाशकारी युद्ध हुआ जिससे पूरा देश तबाह हो गया। युद्ध में केवल पांडव ही तबाह नहीं हुए, उनके कुछ तो बच गये, लेकिन दुर्योधन का परिवार तो संपूर्ण नष्ट हो गया, उनका तो कोई बचा ही नहीं। पूरा देश जो विकास के पथ पर था, वह सदियों तक पिछड़ गया। ऐसा नहीं था कि उस काल में धर्म और कर्त्तव्य का ज्ञान रखने वाले नहीं थे, वहां पर श्रीकृष्ण भी तो थे। महारथी भीष्म पितामह, महात्मा-विदुर आदि महान ऋषि तो उपस्थित थे। वेद व्यास द्वेष की प्रवृत्ति को क्यों नहीं रोक पाये। मेरे समझ से परे है। यह भी सुनने में आता है कि देश में शक्ति संपन्नता इतनी बढ़ गई थी कि श्रीकृष्ण खुद चाहते थे कि ये शक्तिसंपन्न और प्रभुत्वशाली लोग खुद नष्ट हो जाएं। वे ऐसा क्यों चाहते थे? क्या उन्हें दूसरा रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था? यह प्रश्न आज भी मेरे मन में है। क्या शक्ति की प्राप्ति, चाहे वह अर्थ हो, ज्ञान हो या बल हो, ये सब सदा विनाश हेतु बनती हैं?

जब भी किसी जगह शक्ति आती है तो विखण्डनात्मक प्रक्रिया भी आ जाती है। पानी, बर्फ और हवा ये सब एक ही तत्व के तीन रूप हैं। ठोस के रूप में उसी तत्व को बर्फ के रूप में देखते हैं और उसमें जैसे-जैसे गर्मी आती है तो वह तरल होकर बहने लगती है अर्थात अणुओं के अंदर दूरियां हो जाती हैं, उनके संबंध जुड़ने के जगह टूटने लगते हैं और जब उसमें अधिक शक्ति आती है तो पानी से वाष्प बनकर उड़ने लगती है। अब आगे की परिस्थिति देखिए कि इसमें और ज्यादा शक्ति आ जाए तो प्लाज्मा बन जायेगा।

पहले आदि मानव एक समूह बनाकर रहते थे और अपने जीवन-यापन के लिए एक-दूसरे पर काफी आश्रित रहते थे। बड़े जानवरों का शिकार करने के लिए उन्हें बहुत-से लोगों की टुकड़ी के साथ जाना पड़ता था, उसको एक कुनबा कहते थे। प्रारंभिक रूप में खेती के लिए भी बड़े परिवार की आवश्यकता पड़ती थी तो वे सब सामूहिक रूप में कृषि और पशुपालन करते थे। औद्योगीकरण के पश्चात धीरे-धीरे उनमें और शक्तिसंपन्नता तथा वैयक्तिकता की भावना आई तो एक-दूसरे को सहन करना कम हो गया, आपस में मेल-मिलाप कम हो गया। अधिकतर परिवार औद्योगिक समाज की आवश्यकतानुसार टूट कर छोटे-छोटे परिवार हो गये। वे परिवार पति-पत्नी और उनके दो बच्चे का व्यक्तिगत परिवार भर रह गये।

परिवार को समाज का 'शॉक अब्सॉर्बर' कहा गया है - ऐसा स्थान जहां संसार से अपने संघर्ष के पश्चात लुटे-पिटे और खरोंच खाए व्यक्ति शरण के लिए लौटते हैं। ऐसा स्थान जो निरंतर अस्थिरता से भरे वातावरण में एक स्थिर बिन्दु है। जैसे-जैसे औद्योगिक क्रांति घटित हुई, परिवार रूपी यह 'शॉक आर्ब्सार्बर' खुद आघात की चपेट में है। हाल के वर्षों में ज्ञान, संपत्ति और सूचना ये सब और आवश्यक हो गये अर्थात उससे व्यक्ति को शक्ति और निजता मिली। व्यक्तिगत संपन्नता के पश्चात अब तो पति-पत्नी तक अलग-अलग रहने लग गये हैं। छोटे परिवारों का और अधिक विघटन होने लगा। यह देखने में आ रहा है कि व्यक्ति अब नितांत अकेला होता जा रहा है। समाजवेत्ता परिवार संस्था के भविष्य को लेकर अटकलें लगा रहे हैं।

मैं एक बार कैलिफोर्निया गया हुआ था। वहां एक 65 वर्ष के सज्जन मिले। वे इंजीनियर थे और उन्होंने एक फैक्ट्री भी लगाई थी। कैलटेक में उन्होंने काफी दान दिया था। उनके नाम से एक पीठ (Chair) भी थी, लेकिन वे नितांत अकेले थे। उनके पुत्र-पुत्री उन्हें छोड़कर चले गये थे, वे कहां थे, उन्हें पता भी नहीं था। अंत में उनकी पत्नी भी उन्हें छोड़कर चली गई। वे बीमार थे और उनकी नाक से खून गिर रहा था, खून से तौलिया भीग रहा था। वे अपना कारखाना किसी अच्छे परिवार के हाथ बेचना चाहते थे। मैं और मेरा छोटा भाई और मेरी

पत्नी एक साथ उनके पास गये थे। जब सुना कि वे बीमार हैं और वे अकेले हैं, हम फल लेकर उनके पास गये। वहां देखा कि वे बुखार से तप रहे थे और नाक से खून गिर रहा था। मेरी पत्नी ने नाक का खून पोछकर कपड़े की पट्टी रखी, उसके बाद वे कुछ ठीक हो गये। ठीक होने के बाद वे रोने लगे। उन्होंने कहा कि तुम्हारा परिवार कितना अच्छा है। आप लोग सब भाई एक साथ रहते हो। मेरी तो पत्नी भी मुझसे दूर हो गई है। मेरे ज्ञान और संपत्ति अर्जित करने का क्या फायदा। वे मुझसे बोले कि इस फैक्ट्री को आप संभाल लो। मैंने कहा कि इसे संभालने के लिए महाप्रबंधक (G. M.) की जरूरत है। उन्होंने कहा कि आप ले लो, पैसा धीरे-धीरे दे देना। मैंने कहा कि मैं ले भी लेता हूं तो मार्गदर्शक आप करेंगे और चेयरमैन आप ही बनेंगे और आपका थोड़ा निवेश भी होगा। लेकिन इसे संभालेगा कौन? मैं तो अपने परिवार को छोड़कर आऊंगा नहीं, माना कि कारोबार अच्छा है। मेरे भाई ने स्पष्ट कहा कि भारत छोड़कर यहां आकर नहीं रहूंगा और हम लोग वापिस चले आये। यह शक्ति-संपन्नता और विपुलता किस काम आई? इसका समाधान क्या है? गंभीरता से विचार करें तो सह-अस्तित्व का कोई न कोई मार्ग ढूंढ़ना ही एक मात्र समाधान है। सह-अस्तित्व के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे। सभी कामों के लिए हम एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। यह तो मनुष्य की प्रवृत्ति है कि मनुष्य अपने दूर के आदमी के साथ तो समायोजन कर लेता है, पर पास के आदमी के साथ समायोजन नहीं करता।

वैसे भी जब हम जिंदगी में देखते हैं कि प्रगति किसने की, नष्ट किसने किया और प्रगति कब तक है। तो यह देखा गया है कि जब तक मनुष्य ने अपने को अच्छे मानवीय मूल्यों पर आधारित रखा है, अहिंसा और अपरिग्रह इत्यादि गुण जब तक उसके साथ थे, तब तक प्रगति हो रही थी। सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह जीवन का आधार हैं। हमने अपने को वैसी ही संस्कृति में ढालने का प्रयास किया। हमारे धर्म में अनेक देवी-देवता और पंथ-सम्प्रदाय हैं। हमने एक-दूसरे के साथ समावेशन और सह-अस्तित्व का वातावरण रखा। हमारे समाज में शाक्त भी थे, वैष्णव भी थे, शैव भी थे और जो अनीश्वरवादी थे, वे भी थे। हमने एक-दूसरे का पूरक होते हुए अपने समाज को विकसित किया। लेकिन एक बात खास थी कि जब भी आप सन्मार्ग से इधर से उधर होने लगे तो अनुशासन का भी कठोर तरीका था। तो क्या समाज में मनुष्य एक होकर तब तक नहीं रह सकता, जब तक कि अनुशासन की व्यवस्था न हो? लेकिन शासन के अनुशासन में एक असुविधा भी है, शासन करने वाला अगर कहीं अपने स्वार्थ के पीछे चल पड़े तथा सुरक्षा व रक्षा की जिम्मेदारी जिसे दी जाए वही भ्रष्ट हो जाए अर्थात बाड़ ही खेत को खाने लगे तो मानव समाज सुचारू रूप से कैसे चलेगा। समाज अनुशासित होकर रहे तो और प्रगति करे तो मनुष्य के विकास की असीम संभावना है।

- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

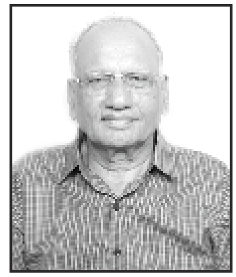

संपादकीय

राष्ट्रभाषा? ...हिन्दी दिवस-2023

हमारे यहां हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए स्वतंत्रता के पूर्व से ही हमारे नेतागण प्रतिबद्ध रहे और कई संस्थाएं सक्रिय रहीं जैसे - ब्रह्म समाज 1828, प्रार्थना समाज 1867, आर्य समाज 1875 (आर्य समाज का तो हिन्दी के प्रसार में वैश्विक योगदान है), नागरी प्रचारिणी सभा 1893, सनातन धर्म सभा 1895, रामकृष्ण मिशन 1897, दक्षिणी भारत हिन्दी प्रचार सभा 1927, हिन्दी विद्यापीठ 1929, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति 1936। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने में दुविधा सहित कई सरकारी-गैरसरकारी संस्थान स्थापित हुए जैसे - साहित्य अकादमी 1954, नेशनल बुक ट्रस्ट 1957, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय 1960, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग 1961, अखिल भारतीय संस्था संघ 1964, राजभाषा विधायी 1965, केन्द्रीय हिन्दी समिति 1967, केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो 1971, नागरी लिपि परिषद 1975, राजभाषा विभाग 1975। केन्द्र सरकार का भारी भरकम बजट है। हिन्दी प्राध्यापकों, अधिकारियों, साहित्यकारों एवं साहित्य की भरमार है। इस सब के बावजूद हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने की तरफ तेजी से अग्रसर नहीं होकर पिछड़ रही है और अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है जिसका विरोध नहीं, अथवा छद्म विरोध है जबकि हिन्दी का विरोध खुल्लम-खुल्ला है। अंग्रेजी का आलम यह है कि हिन्दी की खाने वाले भी अपनी संतति को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते हैं और राज्यों में सरकारों द्वारा अंग्रेजी माध्यम स्कूल धड़ाधड़ खोले जा रहे हैं, राजस्थान में तो महात्मा गांधी के नाम पर?

राजभाषा हिन्दी : एक ऐतिहासिक विमर्श

संविधान में भाषाई आधार पर विभिन्न प्रांतों का निर्धारण किया गया अथवा कहें कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रांत निर्धारित कर दिए गए, हिन्दी को छोड़कर, जोकि हिन्दी किसी प्रांत की भाषा नहीं जिससे उसको लेकर वैसी जातीय चेतना नहीं है जैसी अन्य भाषाओं को लेकर है। आजादी से पूर्व हमारे मनीषी नेताओं ने राष्ट्रीय एकता व चेतना से जोड़कर इसे राष्ट्रभाषा घोषित किया, परंतु आजादी के बाद उभरी विन्निताओं के दबाव में इसे केवल केंद्र सरकार की राजभाषा घोषित किया जा सका और प्रयासों पर विश्वास कर इसके धीरे-धीरे संपर्क-भाषा, राष्ट्रभाषा हो जाने की अपेक्षा की गई। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी का कोई प्रांत नहीं है, अपितु कई प्रांत हैं अर्थात उसका एक क्षेत्र निर्धारित

किया गया जिसमें दिल्ली, हिमाचलप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, झाड़खण्ड, हरियाणा, उत्तराखण्ड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ एवं राजस्थान प्रांत हैं, अर्थात हिन्दी इन प्रांतों की भाषा घोषित हुई और संविधान की आठवीं सूची में जिन 22 भाषाओं को राष्ट्रीय भाषाओं को सूचीबद्ध किया गया उनमें हिन्दी भी एक भाषा है। बंगाल व दक्षिणी प्रांतों का हिन्दी-विरोध जग-जाहिर है परंतु कथित हिन्दी प्रांतों में भी कई भाषाएं हैं - राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, उर्दू, मगही, वज्जिका, अंगिका, छत्तीसगढ़ी, बुन्देलखंडी, मैथिली आदि। इनमें सरकारी मान्यता अथवा संविधान की आठवीं सूची में स्थान प्राप्त करने की कसमसाहट है, हालांकि ज्यादातर यह कसमसाहट लेखकों तक ही सीमित है। इनमें से मैथिली ने पता नहीं किस आधार और रास्ते से मान्यता प्राप्त कर ली है? जबकि राजस्थानी और ब्रज या ब्रजी की दावेदारी, इनके विपुल साहित्य और उसकी प्राचीन परंपरा को देखते ज्यादा सशक्त है। भोजपुरी ने भी ताल ठोक रखी है जबकि उसके पास साहित्य के नाम पर लोकगीतों और भिखारी ठाकुर के नाटकों के अलावा कुछ नहीं है, कुछ वर्षों से सिनेमा भी है। इन भाषाओं के लेखकों में यह कसमसाहट हिन्दी-विरोध के रूप में है (अंग्रेजी से विरोध नहीं)?

उक्त पृष्ठभूमि में हिन्दी के प्रचलित किए गए साहित्येतिहास को देखना मौजूं होगा। इस इतिहास को बनाने के लिए 10वीं शताब्दी से अपभ्रंश से प्रस्थान लिया गया और हिन्दी साहित्येतिहास के आरंभिक या आदिकाल में राजस्थानी भाषा (जिसमें कथित हिन्दी भाषा की कोई भाषागत प्रकृति नहीं थी) की 11-12वीं शताब्दी की चारणों द्वारा रचित वीरगाथाओं अथवा 'रासो' अभिधान वाली रचनाओं तथा 'दोला मारू रा दोहा' जैसे लोक काव्यों को फिट किया गया।

हालांकि इन शताब्दियों में जैन कवियों द्वारा भी 'रास' व 'फागु' अभिधान वाला भक्ति व शृंगार विषयक काव्य भी खूब रचा गया। 14वीं शताब्दी समाप्त होते-होते हिन्दी साहित्येतिहास के आदिकाल की समाप्ति एवं मध्यकाल या भक्तिकाल के प्रारंभ की घोषणा कर दी गई और यह अद्भुत है कि इस मध्यकाल में वीरगाथाकाल की प्रवृत्तियों का लेसमात्र भी नहीं रखा गया। यह इसलिए हुआ, क्योंकि यह वीरगाथा-काल कथित हिन्दी का था ही नहीं, यह तो राजस्थानी का था जिसमें इस काल की प्रवृत्तियां उसके मध्यकाल में भी बनी रही जिसमें काव्य सृजन के साथ-साथ चम्पू, बात-ख्यात इत्यादि जैसी गद्यपरक प्रवृत्तियां भी विकसित हुई और इसके आधुनिक काल में कविता, कहानी, उपन्यास इत्यादि की रचनात्मक प्रवृत्तियां अद्यतन चल रही हैं, अस्तु। जिस प्रकार हिन्दी साहित्येतिहास के आदिकाल के लिए राजस्थानी रासो-काव्य का हरण किया गया वैसे ही इसके मध्यकाल के लिए अवधी भाषा के दोहा-चौपाई छंदात्मक महाकाव्यों तथा ब्रजभाषा के पदात्मक काव्य का हरण किया गया, जो भक्तिपरक थे (इन दोनों में भी कथित हिन्दी को कोई भाषाई विशेषता नहीं थी)। इस काल में कबीर आदि संतों के काव्य में इन अवधी-ब्रजी दोनों भाषाओं का प्रयोग नहीं हुआ और इनकी भाषा को एक विचित्र अभिधान दिया गया-सधुक्कड़ी, जो वस्तुतः हिन्दी है। गंग, रहीम इत्यादि भी इस क्रम में उल्लेखनीय हैं। ब्रज भाषा का प्रभाव तो बहुत व्यापक रहा और यह ब्रज क्षेत्र (किंवा उत्तर प्रदेश) तक ही सीमित न रहकर राजस्थान, बंगाल, उत्तर-पूर्व एवं दक्षिणी भारत में भी प्रसारित हुई और अभी भी इसमें काव्य-रचना हो रही है। अवधी-ब्रजी भाषाओं के भक्तिकाल में 'कट' देकर रीतिकाल के आ जाने की घोषणा की गई। इस रीतिकाल की भाषा भी ब्रजी रही। जिस प्रकार वीरगाथा-काल का कोई दाय भक्तिकाल में नहीं था, वैसे ही भक्तिकाल की काव्य-प्रवृत्तियों का कोई दाय रीतिकाल में नहीं था। यह काल एकदम से ही सीधा संस्कृत की काव्य-रीतियों से आप्लावित था जिसमें कवियों द्वारा अपने आश्रयदाता राजा-महाराजाओं को मजा देने के लिए काव्य-रीतियों के चमत्कारों के दाव-पेंच, नायिका-भेद के नाम पर स्त्री-भोग के एक से एक विलास हैं (एक-

आध अपवादों को छोड़कर)। इसके बाद आधुनिक काल के आ जाने की घोषणा हुई। इसमें भी रीतिकाल का कोई दाय नहीं था और इसके प्रारंभ में भी ब्रजभाषा प्रभावी रही, परंतु तुरंत पश्चात ही हिन्दी (खड़ी बोली) प्रभावी हुई अर्थात वस्तुतः हिन्दी-युग का प्रारंभ हुआ।

हिन्दी/हिन्दवी : मुस्लिम आक्रमणकारी सिंधु नदी को पार कर आये। वे सिंधु का उच्चारण 'हिन्दु' करते थे और अपने द्वारा विजित देश को 'हिन्दुस्तान' या 'हिन्द' कहते थे, इस तरह इस देश का नाम हिन्दुस्तान हो गया, गोकि हमारे देश का कोई एक नाम नहीं था, यहां तो जितनी रियासतें थी उतने ही नामों के देश या राष्ट्र थे। मुस्लिम शासकों ने अपनी राजधानी दिल्ली को बनाया और वहां तथा आस-पास के भूभाग में व्यवहार हो रही बोली को 'हिन्दी' कहने लगे और इस बोली के खड़ेपन या अक्खड़पन के कारण इसे 'खड़ी बोली' कहा जाता था, जैसे बरक्स इसके ब्रज, अवधी पड़ी बोली हैं। सम्भवतः इस खड़ी बोली से तीन भाषाई शैलियाँ विकसित हुई - हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी जिसे सरहिन्दी भी कहा गया। मुस्लिमों द्वारा व्यवहार में लेने के कारण स्वभावतः इसमें अरबी-फारसी के शब्द घुलमिल गये।

कुल तथ्य यह है कि खड़ी बोली ही हिन्दी कही जाने लगी और फिर संस्कृत शब्दों का समावेश कर इसका मानक रूप विकसित किया गया जो अब राजभाषा हिन्दी है और जिसमें रचित साहित्य के सामने ब्रज, राजस्थानी अवधी जैसी साहित्यिक भाषाएं गौण हो गई। खड़ी बोली या हिन्दी की परम विशेषता है उसकी गद्यात्मकता और इसे राजभाषा के रूप में स्वीकार करने के पीछे सबसे बड़ा कारण बना इसके शताब्दियों तक मुस्लिम शासक वर्ग द्वारा व्यवहार, यहां तक कि इनके साथ ही यह दक्षिण भारत में पहुंची जिसे दक्खिनी हिन्दी कहा जाने लगा। कर्नाटक में मुस्लिम हिन्दी में ही भाषा-व्यवहार करते हैं। इस तरह यह शताब्दियों से केन्द्रीय सत्ता की भाषा चली आ रही है।

खड़ी बोली जिस भू-भाग में व्यवहार में है उसमें दिल्ली, मेरठ, देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, बागपत, ज्योतिबा फुले नगर, हरिद्वार, गाजियाबाद, बिजनौर, रामपुर, अम्बाला व हरियाणा हैं। यह भू-भाग प्राचीन कुरु जनपद (दिल्ली-इन्द्रप्रस्थ, मेरठ-हस्तिनापुर) था। और इस जनपद की बोली या भाषा के आधार पर खड़ी बोली विकसित हुई जिसे राहुल सांकृत्यन ने 'कौरवी' उचित ही कहा। इस तरह हिन्दी मूलतः कौरवी पर आधारित है। अपने पड़ोस की अवधी, भोजपुरी, ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, पहाड़ी के साथ दसवीं से बारहवीं शताब्दियों के बीच विकसित इस भाषा में स्वनों के दोहराव जैसी विशेषताएं हैं जो इसे मानक हिन्दुस्तानी, ब्रज, अवधी, राजस्थानी से अलग करती हैं और इसमें लोकगीत, लोकनाट्य, लोककथा, लोकगाथा, गप्प, पहेली आदि के रूप में विपुल लोकसाहित्य उपलब्ध है, साहित्य नहीं।

कौरवी की भाषागत विशेषताएं, उससे विकसित खड़ी बोली में धीरे-धीरे समाप्त हो गयी। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार हिन्दी-उर्दू का नया, वर्तमान रूप आगरा में विकसित हुआ जो उस समय बहुत बड़ा व्यापारिक केंद्र था। इस दौर में खड़ी बोली की जगह स्पष्ट रूप से 'हिन्दी' का प्रयोग होने लगा। बिहार में 1835 में हुए आंदोलन के परिणाम स्वरूप 1875 से वहां हिन्दी का प्रशासन एवं न्यायालयों में प्रयोग होने लगा। हिन्दी साहित्येतिहास के कथित आधुनिक काल में भारतेन्दु युग में खड़ी बोली या हिन्दी के गद्य का साहित्यिक रूप प्रतिष्ठित कर लिया गया था, परंतु ब्रजभाषा की जगह इसमें कविता रचने के लिए अयोध्याप्रसाद खत्री (1858-1905) को आंदोलन करना पड़ा।

अब जिज्ञासा है कि जिस हिन्दी भाषा साहित्य का कथित आदिकाल और मध्यकाल कविता से भरपूर था तो आधुनिककाल में क्या हो गया कि हिन्दी में कविता रचने के लिए आन्दोलन करना पड़ा? सही यह लगता है कि

हिन्दी साहित्येतिहास में कथित आदिकाल राजस्थानी का है और मध्यकाल अवधी-ब्रज का है, हिन्दी का नहीं। खड़ी बोली या हिन्दी का आदिकाल तो अबुल हसन यमीनुद्दीन अमीर खुसरो (1253-1325) से प्रारंभ होता है जिसके दोहा, पद, गजल, जिन्होंने फारसी में खलिकबारी (कोश), हालात-ए-कन्हैया, नजराना-ए-हिन्दी के साथ-साथ कौरवी की परंपरा में खड़ी बोली या हिन्दवी या हिन्दी में दोहा, पद, गजल, कहमुकरी आदि की रचना की। तत्पश्चात मध्यकाल में कबीर, गंग, रहीम इत्यादि कवियों के बाद तो सीधे-सीधे हिन्दी साहित्य का आधुनिककाल आ जाता है। हिन्दी साहित्येतिहास के संदर्भ में राजस्थानी और ब्रज या ब्रजी को 8वीं सूची में रखकर संवैधानिक मान्यता की मांग (आंदोलन नहीं) को देखें तो, और इसे मान लिया गया तो इन दोनों को हिन्दी के पठन-पाठन से हटना पड़ेगा?

हिन्दी साहित्येतिहास का आधुनिक काल

आधुनिकता का प्रारंभ अंग्रजों के संसर्ग से हुआ, अंग्रेजी आधुनिकता का द्वार थी, और अभी भी है। भारतेंदु युग व द्विवेदी युग का साहित्य-सृजन अधिकांश में अपने परिवेश की परम्परा में हो रहा था, परंतु फिर छायावाद अंग्रेजी के संसर्ग से उसके इंगलैंड के एक साहित्यिक वाद रौमेंटिसिज्म के प्रभाव से अस्तित्व में आया। रौमेंटिसिज्म का रूपान्तरण श्रद्धेय शुक्लजी ने स्वच्छंदतावाद किया, परंतु यह रौमेंटिसिज्म की एक प्रमुख प्रवृत्ति तक सीमित रहा। जबकि इसका अनुवाद तो कुछ और रसपूर्ण होता तो ठीक रहता। छायावादी कवियों ने, अब तक कविता में चली आ रही सामाजिक अनुभूतियों के विपरीत व्यक्तिगत अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी, वे प्रकृति अर्थात उसके उपादानों-- चन्द्रमा, नदी, पर्वत, बादल, पवन, सूरज आदि सबको लेकर उनके बारे में चली आ रही सामाजिक मान्यता व सादृश्यता की बजाय वे उनको लेकर अपनी निजी अनुभूति व्यक्त करते हैं जो उनकी प्रकृति के प्रति अपनी प्रेममय अनुभूति है। इस निजता या बौद्धिकता के कारण जो एक अंतरंगता की सृष्टि होती है उससे एक अत्यंत कोमल, रोमेंटिक छाया-सी छा जाती है। इस अंतरंगता के कारण और कविताओं में शब्दों की छायावी सृष्टि से, इस काव्य प्रवृत्ति को छायावाद कहा गया तो उपयुक्त ही कहा गया। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात 1883 के लगभग होता है। यह समय है जब कलकत्ता में फोर्टविलियम स्कूल और कॉलेज की स्थापना होती है जिसमें अंग्रेजी विद्वानों के निर्देश में लल्लूलाल और सदल मिश्र आदि हिन्दी में सूर-सागर आदि का लेखन करते हैं। इस तरह हिन्दी का प्रारंभिक उत्थान कलकत्ते में होता है जहां उस समय राजा राममोहन राय आदि के प्रयासों से नवजागरण और अंग्रेजी सीखने एवं उससे प्रभावित होने की लहर चल रही थी और बांग्ला साहित्य में उपन्यास, कहानी, नाटक इत्यादि गद्यपरक प्रवृत्तियों का विकास हो रहा था।

बंगला काव्य में पारम्परिक, अध्यात्मिक प्रभावों के साथ अंग्रेजी साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों का प्रवेश हो रहा था। सन् 1735 में कलकत्ता में प्रथम मुद्रण प्रेस की स्थापना हो चुकी थी और इस कार्य के आगे बढ़ने के कारण बांग्ला में और लगभग उसके साथ ही हिन्दी में पत्रकारिता का प्रारम्भ हो गया था। मुद्रण के प्रचलन से साहित्य में गद्य परक प्रवृत्तियों का उत्कर्ष हुआ उसके साथ-साथ पद्यात्मक अभिव्यक्तियों में भी परिवर्तन आया।

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है और इसी के क्रमशः जो विकास हुआ उसे महावीर प्रसाद द्विवेदी युग कहा जाता है। यह समय 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ का है। इन दोनों युगों के काव्य में भावोन्मेश है, परन्तु वह एक वैचारिक तार्किकता लिये हुए है। उसमें राष्ट्र एवं सामाजिक जागरण की सुधारात्मक प्रवृत्तियां हैं। जैसा कि हम स्वयं भारतेन्दु के काव्यों-

नाटकों एवं अन्य तत्कालीन कवियों की कविताओं में देख सकते हैं। द्विवेदी युग स्पष्टतः गद्य का ही युग है। जिसमें पद्य-भाषा के स्थान पर गद्य-भाषा के परिष्करण का कार्य हुआ और यह कार्य कहानियों, उपन्यासों, नाटकों, निबन्धों आदि के माध्यम से हुआ और इससे हिन्दी भाषा को नई ऊंचाइयां प्राप्त हुई। आधुनिककाल के एक परिवर्तन कारी युग के रूप में छायावादी काव्य ने कविता और हिन्दी भाषा, दोनों को नए शिखर दिये। उसके बाद उत्तर आधुनिककाल में, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद अन्य कई। वादों की प्रवृत्तियों को लेकर विभिन्न आग्रहों का शिकार उत्तर आधुनिक काल का इतिहास है जिसमें समीक्षात्मक स्थापनाओं व रचनाकारों एवं समीक्षकों की 'वाद'-परक प्रतिबद्धताओं का घटाटोप है।

हिन्दी साहित्य : सृजन और समीक्षा

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की परम विशेषता है, साहित्य में पद्य के स्थान पर गद्य का वर्चस्व, गो कि यह गद्य युग हुआ। गद्य के दबाव में पद्य अपने परम्परागत रूप में नहीं रह सका और कविता छंद से मुक्त हो गई अर्थात कविता का जनतंत्रीकरण हो गया, साथ ही 'वादों' और 'विवादों' का दौर चला। छोटी-बड़ी पंक्तियों के उस संग्रह को कविता कहा जाने लगा जिसे सुन/पढ़कर श्रोता/पाठक इस उलझन में ही खो जाता है कि यह कविता क्यों है? इस स्थिति में समालोचकों ने कमान संभाली और घोषित करने लगे कि ऐसी पंक्तियों में गहन वैचारिक मंथन और संवेदना कि अतल गहराइयां हैं। सब ने मान लिया। वस्तुतः इस दौर में कवि-कर्म में भाव की जगह विचार ने ले ली। अब स्थिति यह है कि-- 'कोई कुछ भी लिख दे वही काव्य है, कोई कवि बन जाये सहज संभाव्य है।' कवि सम्मेलन और काव्य-गोष्ठियां होती हैं, श्रोता जुटाने पड़ते हैं अथवा केवल कवि ही कविता-पाठ की अपनी बारी आने तक श्रोता होते हैं। इस तथ्य को वरिष्ठ कवि नरेश सक्सेना इस तरह कहते हैं, 'दरअसल, कविताओं की जगह खत्म की जा रही है, पत्रिकाएं और अखबार कविता से मुंह मोड़ रहे हैं, बहुत से अखबारों में साहित्य का पेज बंद कर दिया गया है। साहित्य से ऐसे मुंह फेरा जा रहा है, जैसे साहित्य सबसे निरर्थक चीज हो। हमने इसे स्वीकार भी कर लिया है।' अब से 30-35 वर्ष पहले तक लोग अत्यंत रुचि से कवि सम्मेलनों में जाकर कविताएं सुनते थे। अच्छी कविताओं और अच्छे कवियों को बार-बार सुना जाता था। श्रेष्ठ कविगण कवि सम्मेलनों में बुलाये जाते थे। कवि भी सेलिब्रिटी होते थे जिनके नाम पर श्रोताओं की भीड़ लग जाती थी। वस्तुतः उस समय साहित्य की श्रेष्ठता का मापदंड उसकी लोकग्राह्यता और समकालीन परिस्थितियों में उसकी उपयोगितापरक भूमिका हुआ करती थी। यहां उपयोगितापरक से तात्पर्य श्रोता या पाठक की अनुभूतियों की साहित्य में अभिव्यक्ति एवं उनके वैचारिक परिष्कार और मार्गदर्शन से है। शिल्प का महत्व होता था, परन्तु वहीं तक जहां तक वह विषय-वस्तु को अधिक-से-अधिक अभिव्यक्तिपरक सौंदर्य से युक्त एवं ग्राह्य बनाता था। यही साहित्यिक कृतियों की समीक्षा का आधार भी हुआ करता था। मध्यकालीन कबीर, तुलसी, सूरदास, मीरांबाई इत्यादि और आधुनिककालीन भारतेंदु, निराला, प्रसाद, महादेवी, पंत, प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, रामधारीसिंह दिनकर, हरिवंशराय बच्चन, गोपालदास नीरज इत्यादि ऐसे ही रचनाकार हैं जिनकी रचनाओं की लोकग्राह्यता तथा समीक्षा में अद्‌भुत सामंजस्य दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि इन रचनाकारों की रचनाएं आज भी जन-जन की कंठहार हैं और लोग विभिन्न परिस्थितियों एवं बातचीत में इन रचनाओं के अंशों का प्रयोग कर साहित्य सृजन में प्रयुक्त भाषा का व्यावहारिक प्रसार करते हैं। इस तरह से सामान्य व्यवहार की भाषा एवं साहित्यिक भाषा में अंतर समाप्त हो जाता है जिससे भाषा व्यापक होकर समृद्धि को प्राप्त करती है। गत कुछ दशकों से इसका उलट हो गया है। अब लोकग्राह्यता साहित्य की श्रेष्ठता को तय नहीं करती है, अपितु अब समीक्षा या समालोचना तय करती है कि वह श्रेष्ठ है या नहीं? बल्कि यह हो रहा है

कि अपनी लोकग्राह्यता के कारण लोकप्रिय हुआ साहित्य, उपेक्षणीय ही नहीं अपितु हेय तक समझा जाता है। अपनी विद्वत्ता के भार से दबा समीक्षक मंच पर वाह-वाही लूटने वाली कविता को 'मंचीय कविता' कहकर दरकिनार कर देता है और जिस कविता को लोग किसी भी प्रकार से नहीं समझ पाते हैं उसको समझने का दावा कर उसे श्रेष्ठ काव्य की श्रेणी में परिगणित करता है। इस तरह अब यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि साहित्य आलोचना की भेंट चढ़ गया है और परिणामस्वरूप तथ्य यह है कि उत्तर आधुनिक काल में साहित्य ने भाषा की समृद्धि, उसके प्रसार में नगण्य योगदान किया है जो चिंत्य है, इसलिए कि भाषा का प्रसार साहित्य का दायित्व है।

हमारे यहां संस्कृत-काव्य आलोचना की भेंट नहीं चढ़ा अपितु वह अपनी रचनात्मकता में चमत्कारिक शिल्प की भेंट चढ़ कर केवल पंडितों-काव्यशास्त्रियों अथवा सामंतों-अभिजात्यों का विषय होकर रह गया, जैसे उत्तर आधुनिक काल में हिन्दी काव्य केवल समालोचकों-प्रोफेसरों का विषय रह गया। संस्कृत में कृतियों की टीकाओं और व्याख्याओं की वृत्ति, पुनरावृत्ति की परम्परा थी। हालांकि इससे संस्कृत में नया सृजन लगभग समाप्त हो गया, जो हुआ वह उपासना-परक या ब्राह्मण-पंडों के धर्म-धंधे तक सीमित रह गया।

हिन्दी साहित्य में समीक्षा अथवा समालोचना का प्रारम्भ पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के अनुकरण पर हुआ। यहां आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे समीक्षक स्मरणीय हैं जिन्होंने पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का अनुसरण करते हुए भी अपनी सांस्कृतिक संरचना के आधार से समीक्ष्य कृति के साहित्यिक सौंदर्य एवं उसकी लोकपरक मूल्यवत्ता को उद्‌घाटित कर उसकी लोकग्राह्यता में विस्तार किया। परन्तु उत्तर आधुनिक समीक्षा में दृष्टिकोण अथवा वाद विशेष के अनुसार समीक्षा होने लगी, परिणामस्वरूप समीक्ष्य कृति की रचनात्मकता उपेक्षित हो गयी। साहित्य प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, जनवाद, अकविता जैसे वादों और शमशानी, क्रुद्ध आदि पीढ़ियों में विभाजित हो गया। भाव-विचार के स्थान पर विचारधारा प्रमुख हो गयी। नतीजा यह हुआ कि कहीं वैचारिक दुरूहता तो कहीं शिल्प के नाम पर नये-नये अग्राह्य बिम्बों का बोझ साहित्य की रचनात्मकता एवं लोकग्राह्यता को ले बैठा। पाश्चात्य नव्यालोचना एवं संरचनावादी समीक्षा-सम्प्रदायों से प्रभावित समीक्षायें अब अप्रसांगिक होती जा रही हैं। पाश्चात्य समीक्षा सम्प्रदायों का अंधानुसरण अथवा उनके प्रति फैशनपरक प्रतिबद्धता आधुनिक हिन्दी साहित्य की समीक्षा का बड़ा संकट है। इससे समीक्षा के नाम पर समीक्षक कहीं दुर्बोध प्रतिपादन का आडम्बर खड़ा करता है, तो कहीं अधकचरे फलित देता है अथवा झुंझुलाहट में फतवे जारी करता है।

सुधीश पचौरी रिचार्डस को उद्धृत करते हुए लिखते हैं, 'उन्होंने अपनी पहली पुस्तक द मीनिंग ऑफ द मीनिंग में भाषा के दो कार्यों को बताया। एक प्रतीकात्मक अथवा संदर्भात्मक जो बाहरी दुनिया के बारे में कहती है। दूसरी भाषा भावात्मक है जो व्यक्तिगत भावनाएं जगाती है। पहले का उदाहरण विज्ञान की भाषा है। दूसरे का उदाहरण काव्यभाषा है। भावात्मक भाषा, रिचार्डस के लिए काव्यभाषा है जो कर्म तथा दर्शन की भाषा से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह हमारे भावक्षेत्र के स्वास्थ्य का संस्कार करती है। यही उसका मानवतावाद है। यही उसका मूल्यबोध है।' रिचार्डस द्वारा वर्गीकृत इन भाषा-रूपों अथवा भाषा-कार्यों के संदर्भ में हिन्दी भाषा को देखें तो उसमें पहला हमारे यहां उपेक्षित रहा है। अर्थात् विज्ञान, तकनीक, दर्शन की भाषा अथवा यूँ कहें कि भौतिक या वैचारिक आविष्कारों के संबंध में हिन्दी की अभिव्यक्तिपरक उपयुक्तता पर हमने ध्यान नहीं दिया है। परिणास्वरूप हिन्दी का भाषाई विस्तार अवरुद्ध हुआ है। उधर रिचार्डस द्वारा बताये गये भाषा के दूसरे रूप अथवा काव्य भाषा में बहुत से प्रयोग हुए हैं, बल्कि कहें कि विचित्र प्रयोग हुए हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि

काव्य अथवा साहित्य सामान्य जन से दूर होकर कुछ लोगों तक सीमित रह गया है।

अब ज्यादातर स्थिति यह है कि आलोचना सम्मतियों और टीका-टिप्पणियों तक सीमित रह गई है। गम्भीर पर्यवेक्षण के अभाव में रचना का सौंदर्य उद्घाटित कैसे हो? वस्तुतः आलोचक का दायित्व है कि वह आलोच्य कृति की रचनात्मकता को विस्तार दे और उसके साहित्यिक, सामाजिक अवदान को रेखांकित करे। गत कई दशकों से साहित्यिक शोध कार्य की स्थिति तो और भी खराब है। अधिकांश साहित्यिक शोध प्रबंधों में शोध-श्रम का अभाव और शोध-निदेशक तथा शोधकर्ता की जोड़-तोड़ चिंत्य है। शोध-प्रबंधों में शोध विषयों की पुनरावृत्ति और विषय प्रतिपादन में अमौलिकता स्पष्ट देखी जा सकती है। विश्वविद्यालयों द्वारा दी जाने वाली पीएच.डी. की उपाधि इतनी अविश्वसनीय हो गई है कि उसे प्राध्यापकीय अर्हता से हटाकर इसके स्थान पर अलग से नेट-सेट परीक्षायें आयोजित करनी पड़ रही हैं। पीएच.डी. की उपाधि केवल नौकरी प्राप्ति अथवा नौकरी में प्रोन्नति प्राप्ति तक सीमित हो जाने के कारण गत दिनों विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को शोधकार्य के संबंध में कुछ सख्त मापदंड निर्धारित करते हुए पीएच.डी. की उपाधि को वापस लेने का प्रावधान करना पड़ा है। ऐसे में भाषा और साहित्य दोनों का ही क्षरण हुआ है, गोकि एक ठहराव सा लक्षित हो रहा है। ठहराव इस रूप में कि सामान्यतः हम मध्यकालीन कबीर, तुलसी, सूर, मीरां अथवा ज्यादा से ज्यादा निराला, प्रसाद, प्रेमचंद इत्यादि से आगे बढ़ ही नहीं पा रहे हैं। माहौल यह हो गया है कि इन रचनाकारों के बाद जैसे उल्लेखनीय कुछ भी रचा ही नहीं गया है। जबकि गत वर्षों में अच्छी स्तरीय रचनायें भी हुई हैं, परन्तु या तो उनमें लोक मानस से जुड़ने का अभाव है अथवा उनकी आलोचना की प्रतिबद्ध अवधारणाओं द्वारा अवहेलना कर दी गई है। हम यहां त्याग-पत्र, शेखर एक जीवनी, उसका बचपन, मैला आंचल, अंधेरे में, अंतिम अरण्य, जिंदगीनामा, आषाढ़ का एक दिन, अंधा युग, अवारा मसीहा जैसी कई कृतियों को याद कर सकते हैं जिन्होंने सृजनशीलता, संवेदना और शिल्प को वैविध्य एवं विस्तार दिया, परन्तु उनकी इस उपलब्धि की उपेक्षा कर ऐसी कृतियों पर भी समालोचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण आरोपित कर दिये।

स्थिति यह हो गई है कि गजानन माधव मुक्तिबोध ने, एक साहित्यकार होते हुए भी यह स्पष्ट कहा कि साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करना मूर्खता है, क्योंकि साहित्य मनुष्य के आंशिक साक्षात्कारों की बिम्ब तालिका भर तैयार करता है। मुक्तिबोध का यह कथन आलोचक से अपेक्षा करता है कि वह इन बिम्बों की समग्र मानवीय संदर्भों में व्याख्या कर कृति की रचनात्मकता को विस्तार दे और साहित्यकार से अपेक्षा करता है कि वह साहित्य सृजन के अलावा भी सामाजिक सरोकारों के लिए रचनात्मक भूमिका अदा करे। सामाजिक सरोकारों में साहित्यकार एवं साहित्य-समालोचक के लिए भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह अस्तित्व के लिए एक जरूरी शर्त है और उसकी सक्रियता पर ही सामाजिक सांस्कृतिक सक्रियता निर्भर है। साहित्यकार अपनी सर्जनात्मकता और समालोचक उसकी समालोचना में सर्जनात्मक अभिवृद्धि के द्वारा भाषाई सक्रियता को ऊर्जा प्रदान कर सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में परम्परा का पुनः आविष्कार कर अपडेट कर सकता है। आज आलोचना के द्वारा साहित्य अथवा साहित्य सृजन को पुनःपरिभाषित करने की बजाय साहित्य के वास्तविक अर्थ को समझने और समझाने की आवश्यकता है।

-डॉ. बाबूलाल शर्मा

परम्परा की अवधारणा

प्रो.ए.अच्युतन

परम्परा की अवधारणा का प्रस्थान हम भरत मुनी से ले सकते हैं जिन्होंने परम्परा की नाट्य के संदर्भ में विवेचना की है। भरत मुनी अपने नाट्यशास्त्र में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी जैसी दो धर्मिताओं अथवा परम्पराओं की ओर संकेत करते हैं -- 'लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मति द्विविधः स्मृता; जो भारत की रंग परम्परा में देशी व मार्गी के रूप में जानी जाती हैं। यह सर्वविदित है कि किसी भी शास्त्र का जन्म शून्य से संभव नहीं है। अतीत के साथ उस का कुछ संबन्ध रहता है। लगभग 2500 वर्ष की नाट्य परम्परा के बाद ही ग्रीक में अरिस्टोटल ने अपने 'पौयटिक्स' में विरेचन की बात की। 5-6 शताब्दी के नउ थियेटर शैली के परिणाम स्वरूप जापान में जियामों ने 'हाना' की बात की। इसी प्रकार हमारे यहाँ अनेक रंग परम्पराओं के बाद ही भरत मुनी ने 'रस' की बात की है। अतः रंग परम्परा का महत्व अपने आप में सिद्ध हो जाता है। रंगमंच की परम्परा के मूल में 'लोक' की शक्ति रही है। इसलिए शायद भरत मुनी ने नाट्य शास्त्र के अन्त में यही कहा कि अगर जो भी रह गया है तो उसे 'लोक' से ग्रहण करना चाहिए।[1] यह भी उल्लेखनीय है कि आदिम जनसमुदायों की नृत्य परम्परा जैसे झारखण्ड के मुण्डा आदिवासी समुदाय की सोसाबोंगा जैसी सुदीर्घ नाट्य परम्परा एवं जनमानस में प्रतिष्ठित लोक नाट्यों की अति विशिष्ट परम्परा भारत में विद्यमान है। भारतीय संदर्भ में इसके प्रयोक्ता तथा वाहक असुर, शूद्र तथा अनार्य जातियाँ हैं जैसे नट, मुण्डा, डोम, भाण्ड, परया, कुरवा आदि। तात्पर्य है कि परम्परा का मूल 'लोक' में है।

परम्पराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती हैं। यही समाज की आदत है। अर्थात परम्परा समूह परक होती है। परम्परा कोई दैविक निर्माण नहीं, अपनी आवश्यकताओं के अनुसार तत्वों का चुनाव कर समाज उन्हें आकार देता है। यह मानव निर्मित परंपरा निरन्तर नयी आवश्यकताओं द्वारा अनुकूलित होती रहती है। भारतीय समाज में पर्याप्त विविधता है; परम्पराएँ हैं; लेकिन विविधता में एकता का स्वर भी है। "इस देश में कुल 91 सांस्कृतिक क्षेत्र हैं। यहाँ कोई 4635 समुदाय हैं। संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 22 भाषाएँ और कोई 1500 बोलियाँ हैं। इस देश में 80 प्रतिशत लोग मांसाहारी हैं।"[2] भारत की एक विशेषता यह है कि यहाँ कई लोग आये, कुछ समय तक रहे और मिल गये। "आर्य, यूनानी, शक, कुषाण, आथीर, गुर्जर, हूण आदि सब भारतीय विराट परम्परा का अंश बन गये। एक ओर

पुरानी छवियों का संविलयन होता रहा तो दूसरी ओर नयी स्वतंत्र छवियाँ उभरती रही। जैन धर्म ने एक नयी वैचारिक भूमि प्रदान की जिसने कई बहुमूल्य अवधारणाओं को चुनौती दी। बौद्ध धर्म ने एक क्रांतिकारी विचारधारा को प्रतिष्ठित किया। इस्लाम, ईसाई तथा सिख का प्रसार हुआ। दीर्घकाल तक इनकी छवियाँ स्वतंत्र रही, आज भी हैं। लेकिन वे भारतीयता से पृथक नहीं, क्योंकि उनकी जड़ें भारतीय चिंतन की भावभूमि है।"[3] मतलब यह हुआ कि एक लम्बी अवधि में भारतीय समाज में कई विदेशी बस गये, धर्म परिवर्तन हुए और इन सब का परिणाम परंपराओं पर पड़ा। कुछ मौलिक परंपराएं बदल गई, कुछ नई परंपराएं आ गई। परिणाम यह हुआ कि देश में परम्पराओं की जो संरचना है वह बहुआयामी हो गयी।

परम्परा की परिभाषा - परम्परा के निरूपण की नयी दृष्टि प्रस्तुत करने से पहले यह संगत लगता है कि परम्परा को किस तरह विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया, इस पर ध्यान दें। स्वतंत्रता प्राप्ती के बाद भारतीय समाजशास्त्रियों में धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी (1894-1961), धीरेन्द्रनाथ मजूदार (1903-1960), एम. एन. श्रीनिवास, ए. आर. देसाई, योगेन्द्रसिंह आदि विद्वानों ने परम्परा और आधुनिकता पर विशेष रूप से अध्ययन प्रस्तुत किया है। फ्रांकलिन गिडिंड्ग्रस से प्रभावित डी.पी मुखर्जी परम्परा को एक सामाजिक व्यवहार मानते हैं। इसके संश्लेषण को मानते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि "भारत की बौद्धिक और कलात्मक उपलब्धियाँ किसी भी तरह से पश्चिम की तुलना में कमजोर नहीं हैं। इन परम्पराओं में वेदान्त, पश्चिमी उदारवाद और मार्क्सवाद का संश्लेषण है।"[4] एम. एन. श्रीनिवास परम्पराओं का महत्व क्षेत्रीय तत्वों के आधार पर मान कर गाँव से जुड़ते हैं और इसका केन्द्र धर्म विधियों को मानते हैं। धीरेन्द्रनाथ मजूमदार क्लार्क विस्सलर, रिवेर्स तथा टैलर के प्रभाव से संस्कृति की व्याख्या करते हुए परम्परा का उल्लेख करते हैं, कहते हैं कि हमें अतीत (परंपराओं) को वर्तमान के संदर्भ में समझना चाहिए और वर्तमान को अतीत के संदर्भ में, कभी स्वर्ण युग नहीं था और न भविष्य में यह कभी होगा। जीवन तो समंजन की एक प्रक्रिया है और यह बराबर प्रकट या उघड़ती रहती है। वे लोग जो इस समंजन को नहीं समझ पाते समाज उन्हें फेंक देता है और जो नई व्यवस्था के साथ अपना जोड़ बैठा लेते हैं, आगे निकल जाते हैं। उन्होंने यह स्थापित किया कि किसी भी संस्कृति की ताकत उस की परम्पराएं होती हैं। उन्होंने वस्तुतः संस्कृति के ऐतिहासिक विकास की धारणा को सशक्त किया है। अक्षय रमणलाल देसाई के अनुसार परम्पराएँ वे हैं जिनका लोक जीवन के साथ धर्मनिरपेक्ष संबंध है। परम्पराएं उनकी प्रकृति में सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक तत्वों से जुडी हुई हैं। धर्म और धार्मिक ग्रंथों से उनका कोई संबन्ध नहीं है। वे मानते हैं कि परम्पराओं का उद्‌गम और उनकी प्रकृति हम धर्म-विधियों में मानते हैं तो स्पष्ट रूप से लगता है कि ये परम्पराएं सड़क के आम आदमी के शोषण के लिए हैं।[5] संरचनावादी समाजशास्त्री लुईस डुमोन्ट ने यह स्थापित किया है कि भारत का एक ऐसा धार्मिक समाज है जो जाति व्यवस्था की शुद्ध स्तरीकरण व्यवस्था से परिचालित है। इसके पहले बर्जर तथा लुकमैन जैसे विद्वानों ने यह स्थापित किया था कि किसी भी समाज की व्यवस्था भाषा, प्रतीक और वैचारिकी द्वारा सरलता से की जा सकती है। डुमौन्ट भी भारतीय समाज को वैचारिकी आइडियोलोजी की दृष्टि से समझने के पक्ष में है।[6] मिलटन सिंगर का कहना है कि "नई अर्थव्यवस्था के परिणामस्वरूप जो बदलाव आते हैं, उनके अनुसार परम्पराएं तथा सामाजिक संरचना दोनों ही बदल जाती हैं।

मतलब बदली हुई दशाओं में परम्पराओं की भूमिका, संबंध और इनकी अन्तःक्रियायें तीनों ही बदल जाती हैं। सिंगर ने कहा कि आज धर्मनिरपेक्ष

विचारधारा वाले लोग परम्परा के अंकुश से मुक्त हो गये हैं और अपनी अर्थव्यवस्था तथा समाज को आधुनिक बनाने की ओर अग्रसर हो रहे हैं।[7] इन परिभाषाओं से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आज के वैचारिक पर्यावरण में परम्परा, संस्कृति, जातीय भावना आदि तत्व चर्चा के केन्द्र में आ रहे हैं और हमें यह मानकर आगे बढना है कि परम्परा की पुनर्रचना निरन्तर होती रहती है। परम्परा का आधार लोक भी है, शास्त्र भी है परंतु लोक ही शास्त्र परंपरा का आधार है।

परम्परा की पुनर्रचना

आज के उत्तर आधुनिक संदर्भ में हमारे सामने प्रश्न यह है कि भारतीय परम्परा का ऐसा विवेक सम्मत प्रतिरूप कैसे विकसित करें जो इतिहास-दृष्टि को स्वीकृत हो और सामाजिक गति के रोक का कारण न बने। परम्परा, संस्कृति और जातीय भावना एक दूसरे से संबन्धित हैं। परम्परा बनी-बनायी नहीं मिलती, उसका क्रमिक विकास होता है। भारतीय परम्परा को वेद, पुराण और शास्त्रों से जोड़ने की प्रवृत्ति सशक्त रही है। ये ग्रन्थ मानव सभ्यता की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि ये ग्रंथ क्या अपने समय का सही चित्रण करते हैं? उनमें चित्रित परम्परा के अतिरिक्त क्या अन्य स्वतंत्र परम्पराएँ भी इस देश में थी, जनजातीय या क्षेत्रीय? धर्म और दर्शन से न जुड़ी हुई धर्मनिरपेक्ष परम्पराएं क्या इस देश में विकसित नहीं हुई? इस तरह के सवाल स्वाभाविक रूप से शताब्दियों से पोषित हमारी अवधारणाओं का खण्डन करते हैं। वस्तुतः जनजातीय एवं क्षेत्रीय परम्पराएँ इस देश में सशक्त रही हैं। उनकी अलग पहचान थी, परम्परा का सम्मान उसमें था। लेकिन साथ साथ कालान्तर में विद्रोह और विरोध की परम्पराएँ भी विकसित होती रही जिनसे भारतीय समाज को नयी दिशा और गति मिली। अतः कह सकते हैं कि परम्परा की खोज की अत्यंत जटिल प्रक्रिया का सरलीकृत और एकांगी निरूपण इन ग्रन्थों में मिलता है। इसलिए हमें ऐतिहासिक विवेक के साथ एक नयी दृष्टि विकसित करनी होगी। पुराने मिथकों के साथ नये मिथकों की निर्मिति तथा उनके प्रसार पर भी विचार करना पड़ेगा।

परम्परा संस्कृति का वह भाग है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक एक निरन्तरता बनी रहती है। संस्कृति का पूरा महल ऐतिहासिक संदर्भों से निर्मित होता है। उसके ऐसे मूल्यों और व्यवहार-प्रकारों को, जिनकी जड़ें इतिहास में बहुत गहरी हैं, परम्परा कहा जाता है। जातीय भावना अपने मूल अर्थ में पहले, विशिष्ट नृवंशीय शाखाओं से जुड़े संवेदनात्मक लगाव को कहा जाता था लेकिन आज उसमें क्षेत्रीय, भाषिक तथा सांस्कृतिक तत्व भी मिल गये हैं जिससे जाति भावना की व्याख्या गौरव पूर्ण बन गयी है। अतः विद्वानों की मान्यता यह है कि परम्परा, संस्कृति और जातीय भावना एक तरह से मानसिक पुनर्रचनाएं होती हैं। जब इस तरह की पुनर्रचनाओं की प्रक्रिया ज्ञात सामाजिक तथ्यों और ऐतिहासिक यथार्थ से कटकर नये मिथक और प्रतीकों को अपना लेती है तो उस पर भी जरूर विचार करना चाहिए। यह बात सच है कि प्रत्येक परम्परा पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक बाह्य परम्पराओं का प्रभाव पड़ता है जिससे संघर्ष होते हैं, अंततः कई तत्त्व आत्मसात किये जाते हैं। परम्परा का चरित्र बनता है आंतरिक और बाह्य तत्वों के संयोजन से। यह संयोजन बदलाव का कारण है। मूल प्रश्न यह है कि परम्पराओं के बाहर जो लोक है, जो बहुसंख्या में है और परम्परा का सशक्त अंग है, उसे किस तरह पारिभाषित किया जाए? परंतु यह पारस्परिक संश्लेषण से स्वतः परिभाषित होता रहता है और इन परिभाषाओं से परंपरा की पुनर्रचना होती रहती है।

इतिहास-बोध - परम्परा और संस्कृति के साथ जुड़ा एक अन्य तथा महत्वपूर्ण तत्व है इतिहास-बोध जिसके बिना परम्परा का विवेचन अपूर्ण रह जाएगा।

इतना ही नहीं परम्परा का मूल्यांकन तथा इतिहास-बोध ही अब सांस्कृतिक नीति का अंग होने की मांग भी हो रही है। अन्य तत्वों की तरह इतिहास दृष्टि से भी परम्परा में कालानुसार परिवर्तन हो रहे हैं। अभी तक इतिहास की दृष्टि ऊपर से नीचे की ओर थी लेकिन अब यह नीचे से ऊपर की ओर देखने लगी है। यह जन इतिहास है जिसमें समाज के सामान्य लोग सत्ताधारियों के हाथ के खिलौने नहीं हैं। अपनी तरह से ये भी देश के इतिहास के निर्माता हैं। इसलिए उनकी दृष्टि और शक्ति का आकलन अब होने लगा है। हमारे देश में इतिहास कई तरह से लिखा गया है, लिख रहे हैं। लेकिन इतिहास का अनुशासन अन्य अनुशासनों के साथ मिलकर अपना मार्ग स्वयं खोज रहा है। इस प्रक्रिया में अन्य सामाजिक विज्ञानों, विषयों और अनुशासनों का सहयोग आवश्यक बन गया है। क्यों कि इतिहास को अब समाज के एक दर्पण के रूप में उभरना है जो परम्परा के मूल्यांकन का साधन बने। इतिहास को अब समाज के सत्य और यथार्थ से, उसके भावि विकास की धारणाओं पर विचार करने के लिए सार्थक पृष्ठभूमि प्रदान करनी है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या परंपरा ऐतिहासिक सत्यों पर आधारित है? नहीं है। क्योंकि परम्परा में ऐतिहासिक तथ्य के साथ-साथ मिथक भी सामाजिक तथ्य हो सकते हैं, जो ऐतिहासिक तथ्य नहीं हो सकते। मिथकों का संसार अलग है। वहाँ का तर्क-वितर्क सामान्य संसार में लागू नहीं किया जा सकता है। मिथक अनेकानेक विरोधी तत्वों से भरे पड़े हैं। बालि के वध का औचित्य क्या है, यह आज के संदर्भ में कहाँ तक उचित होगा? सूतपुत्र कर्ण, एकलव्य, शूद्र तपस्वी शंबूक, बली आदि के साथ मिथक ने जो अन्याय किया है क्या वह आज के तर्क को मान्य होगा? आजका कर्ण, एकलव्य, बली, शंबूक और समाज, उस व्यवहार को सहन नहीं करेगा जो इतिहास के एकलव्य, कर्ण आदि को सहना पड़ा। नये संदर्भ में अस्पृश्यता अमानवीय है, दलित-आदिवासियों के साथ, उनकी लघु सांस्कृतिक परम्परा एवं कला के साथ जो व्यवहार हुआ था, उससे आज का समाज सन्तुष्ट नहीं होगा। आज नारी को पूजा और ताड़न की जरूरत नहीं है, वह समता चाहती है। अतः हम कह सकते हैं कि परम्परा को, इतिहास दृष्टि को या सांस्कृतिक दृष्टि को समयानुकूल बदलना अपने आप में स्वयं एक महत्वपूर्ण परम्परा है। आज के संदर्भ में सहयोगी और सहभागी प्रयत्न से, महान और लघु दोनों परंपराओं के समन्वय देश की परम्परा की ऊर्जा को बनाये रखने के लिए जातीय सृजनात्मकता का भी उपयोग करना चाहिए। क्योंकि जल्दी ही संस्कृति का सृजन और उपयोग दोनों मूलभूत मानवीय अधिकार के रूप में प्रतिष्ठित होंगे। लोक संस्कृतियों के संस्कृति की मुख्यधारा में विलयन संबन्धी दुराग्रह हमें छोड़ना चाहिए, उन्हें दूसरी श्रेणी की नागरिकता देना न केवल लोक कलाओं के लिए वरन सामान्य रूप से सभी कलाओं के लिए विघातक सिद्ध होगा। आज वैयक्तीकरण व्यापक सामाजिक हितों पर आक्रमण कर रहा है, नयी सांस्कृतिक चेतना परम्परा को विस्तृत करने के विरोध में है, तो निश्चित रूप से हमें उत्तर-आधुनिक संदर्भ से उत्पन्न विकृतियों से बचना होगा। सामाजिक संबन्धों का आधार सामूहिकता, सहभागिता और सहयोग ही होगा न कि वर्चस्ववादी मानसिकता। लोक की चेष्टाएं एवं परंपराएं जीवन के व्यापक संदर्भों से जुड़ी होती हैं और समग्र संस्कृति की पृष्ठभूमि में अर्थ पाती हैं।

सन्दर्भ

1. एवं नाट्य प्रयोगे बहुविधि विहितम्/ कर्मशास्त्रम प्रणीतम नोक्तम/यच्चात् लोकानुकृति करणात्/ संविभाव्यम् विधिज्ञौ।।- नाट्यशास्त्र। **2.** People of India - Project by K.S. Singh- Anthropological Survery of India - Associated - East West Press. **3.** श्यामचरण दुबे, 'परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति' राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1995, पृ.

39.। **4.** धुर्जटि प्रसाद मुखर्जी, बैसिक् कन्सेप्ट्स ऑफ सोष्योलजी, 1932.। **5.** एम. एन. देसाई, 'रिलिजियन एण्ड, सोसैटी एमंग् द कूर्ग ऑफ साऊथ। इन्डिया' 1952, द. रिमम्बेड विल्लेज, 1976। **6.** ए. आर. देसाई, सोश्यल बेकग्रौण्ड ऑफ इन्डयन नेशनिसम, 1948। **7.** लुइस डुमौन्ट, होमो हैरारकिकस, 1970। **8.** मिलटन सिंगर, वेन ए ग्रेट ट्रेडीशन मोर्डनैसः एन आन्त्रोपॉलोजि अप्रोच टु इन्डियन सिविलैसेशन, 1972, न्यूयोर्क, प्रीज़र पब्लिशर्स।

एफ 1/2 साईंकृपा
हरितनगर कॉलोनी, चेवरम्बलम-
कालिकट- 673017, केरल
मो. 9447884370
ई-मेलः achyuthpanchamltedi@gmail.com

प्रतिस्वर

वैचारिकी का मई-जून 2023 अंक मिला। अध्यक्षीय के अंतर्गत एक युवा भारतीय शोधार्थी श्री जीवन राव जीएस के 'विश्वामित्र एक विस्तृत तारा' नमक ज्ञानवर्धक वैज्ञानिक आलेख में नवीन जानकारी प्रस्तुत की गई है। लोक संस्कृति, समीक्षात्मक दृष्टि और हिंदी संस्कृत भाषाओं की कई विशिष्ट, यादगार कृतियों के माध्यम से उपयोगी विभिन्न आलेख पढ़ने को मिले। पाठक मंच में प्रस्तुत भिखारी ठाकुर, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बारे में विस्तृत महत्वपूर्ण जानकारी से विद्वान पाठक वृंद की सुरुचिपूर्ण सहृदयता का परिचय मिलता है। सबसे अधिक ध्यानाकर्षण करने वाला संपादकीय बड़ा महत्वपूर्ण है। जिसमें डॉ. बाबूलाल शर्मा ने यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देने वाले जुगनूई लेखकों के जोड़तोड़ के द्वारा पुरस्कार प्राप्त कर स्वयं को स्थापित करने की प्रवृत्ति, लेखक बनने की लालसा में अपनाए जाने वाले हथकंडों को उजागर किया है और बीते युग में संपन्न होने वाले कवि सम्मेलनों की गरिमा और उन कवियों की विशिष्टता, उनके दमखम व जन-जन के कंठ हार बनने वाली उनकी कविताओं की याद दिलाते हुए आज की वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया गया है। इसी तरह मीराबाई के पदों के माध्यम से कुछ विद्वानों द्वारा जोड़-तोड़ कर उनके अर्थ बताने के उपक्रम में उसका अनर्थ करने की ओर स्पष्ट संकेत किया है। डॉ. शर्मा ने यहां स्थानीय संस्कृति, रीति रिवाज, धारणाओं आदि के संदर्भ में प्रयुक्त शब्दों की भ्रांति और उनके सटीक अर्थ को उजागर किया है। जो लोग अपने पद और आभासीय प्रतिष्ठा के बल पर तथाकथित विद्वान बन जाते हैं, वे अपनी भूल या अनभिज्ञता को सहर्ष स्वीकार क्यों नहीं करते? साहित्य, साहित्यकारों के गौरवशाली अतीत की साहित्य साधना का दस्तावेज जैसा यह संपादकीय इनके लंबे अनुभव से साहित्य की सुदीर्घ परंपरा को स्पष्ट करते हुए हमें बीते युग की याद ताजा करा देता है। इनके कुशल संपादन से शोधपूर्ण शानदार पत्रिका वैचारिकी इस इंटरनेट युग में भी एक संग्रहणीय और महत्वपूर्ण पत्रिका है।

मनोहर सिंह राठौड़
420 हनुवन्त-ए, रोड नं. 3 वी.जे.एस. कालोनी,
जोधपुर-342001
मो. 7792093639

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मानवाधिकार : एक विमर्श

अरुण कुमार

मानवाधिकार की अवधारणा वैश्विक स्तर पर चर्चित चिंतनीय एवं ज्वलन्त सामयिक विषय है। आज इस अवधारणा की संस्थागत एवं प्रकार्यात्मक भूमिका में निरन्तर वृद्धि हो रही है। सामान्य तथ्य है कि मानवाधिकार से प्रत्येक मनुष्य को उसके हक एवं अधिकार की प्राप्ति का बोध होता है क्योंकि अहस्तक्षेप की नीति के साथ यदि व्यक्ति को उसका हक प्राप्त हो जाता है तो न्याय, गरिमा, प्रतिष्ठा, समानता एवं स्वतन्त्रता की संकल्पनायें साकार हो जाती हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सामाजिक कल्याण का भाव सर्वोपरि था, जो कि मानवाधिकर का मूल है। अतः प्राचीन काल से ही मानवाधिकारों का संरक्षण होता आया है। विधि के समक्ष समानता एवं कानून का समान संरक्षण जैसी पाश्चात्य अवधारणायें प्राचीन भारतीय राजव्यवस्थाओं के संचालन में केन्द्रीय भाव रखती थी। वैदिक साहित्य में राजा के कर्तव्यों एवं दायित्वों का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया था ताकि राजा पथभ्रष्ट न हो और व्यक्ति के हितों एवं अधिकारों को संज्ञान में रखकर व्यवस्था का परिचालन करे। इस प्रकार मानवाधिकार भारतीय सन्दर्भ में व्यापक परिप्रेक्ष्य लिए हुये है।

मानव सभ्यता के इतिहास में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष मनुष्य की वैचारिक यात्रा का वह प्रस्थान बिन्दू है जहाँ से मानवाधिकार की चिन्तन प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। समाज, संस्कृति, सभ्यता, अर्थ एवं राजव्यवस्था व्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास की सूचक है और व्यक्ति विवेकशील होने के कारण अपने समूह एवं परिवार को सम्पूर्ण वैश्विक जगत से जोड़कर समाज को इतना विस्तार देता है कि पूरी दुनिया ही कुटुम्ब बन जाती है। इस सन्दर्भ में सबसे समृद्ध चिन्तन भारतीयों का है। मानवाधिकार की संकल्पना का संकल्प प्राचीन भारतीय धर्मसूत्रों में दिये गये हैं। वाक्यांश 'जिओ और जीने दो' की मूल भावना से उद्धृत है-- श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वाचैवाव धार्यताम्, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा म समाचरेत। अर्थात् पूर्ण धर्म में धारण करने योग्य सार यह है कि जो बात अपने अनुकूल न हो वह दूसरों के साथ भी न करो।

मानवाधिकार की अवधारणा का स्वरूप हमें स्टोईक दर्शन के सिद्धान्तों में भी प्राप्त होता है जिसमें यह माना गया है कि सार्वभौमिक शक्ति सभी जीवों में व्याप्त है। अतः सभी को प्राकृतिक विधि के अनुरूप आचरण करना चाहिए। वास्तव में मानवाधिकार की भावना का

उदय सभ्यता के साथ ही हो गया था। व्यक्ति की विवकेशीलता के कारण तथा दूसरों की सुख-सुविधाओं के बारे में सोचने के सन्दर्भ में उसे प्राणियों में श्रेष्ठ माना गया। आज मानवाधिकार की जड़ें राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर जमी हुयी हैं एवं वैश्वीकरण के इस युग में मानवाधिकार एक ज्वलंत मुद्दा बना हुआ है। मानवाधिकार का आधार प्राकृतिक है और इसी कारण अपने स्वरूप में यह रंग, जाति, लिंग, धर्म के भेदभाव के बिना मानवीय गरिमा के लिए सम्मान की भावना को समाहित किये हुये है। मानवाधिकारों को व्यक्ति के ऐसे अधिकार माना जा सकता है जो व्यक्ति के गरिमामयी जीवन के लिए आवश्यक है। मानवाधिकारों की सर्वव्यापी व्यवस्था का उद्देश्य सभी समाजों में व्यक्ति के सम्मानपूर्ण जीवन के लिए परिस्थितियों का पुनर्निर्माण एवं पुनरीक्षण करना है।

मानव मूल्यों के मानकों का बीजारोपण व समुचित दर्शन वैदिक सभ्यता में प्राप्त होता है। इस तथ्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि वैदिक काल में मानव अधिकारों को सर्वोच्च स्थिति प्राप्त थी क्योंकि उस दौर में सामाजिक कल्याण का भाव सर्वोपरि था जो मानवाधिकार का मूल है। वैदिक काल से ही समस्त जीवों और प्रकृति की परस्पर निर्भरता का उल्लेख करते हुये सम्पूर्ण लोक के कल्याण की संकल्पना प्रस्तुत की गयी है - सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा काश्चित् दुःख भागभवेत्।। अर्थात् सभी सुखी होवें, सभी रोगमुक्त रहें, सभी मंगलमय घटनाओं के साक्षी बनें और किसी को दुःख का भागी न बनना पड़े। इस उद्घोष में सभी जीवों के लिए जीवन की आवश्यकताओं को समझा गया। प्राचीन काल में हमारे ऋषियों ने ईश्वर से ऐसी बुद्धि की याचना की जो किसी को भी कष्ट न पहुँचाये।

भारत के प्राचीन दर्शन में मानवाधिकार की धारणा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मानवाधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के रूप मिलते हैं। ऋग्वेद (मंडल 5, सूक्त 60, मंत्र 5) में कहा गया है-- अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते। सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।। अर्थात कोई श्रेष्ठ या निम्न नहीं है। सभी भाई हैं और सभी लोग सभी के हितों के लिए प्रयत्न करें तथा सभी सामूहिक रूप से प्रगति करें। ऋग्वेद के एक मंत्र में हा गया - सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागंयथा पूर्वे संजानाना उपासते।। अर्थात् ए मानव प्राणी ! आप सभी परस्पर सहयोग के साथ-साथ रहें, मित्रतापूर्वक एक-दूसरे के साथ वार्ता करें एवं जीवन के सामूहिक आदर्शों वाला ज्ञान प्राप्त करें। ऋग्वेद के दूसरे मंत्र (मण्डल 10, सूक्त 191, मंत्र 4) में समानता के अधिकार का विस्तृत वर्णन किया गया है--- समानो व आकृतिः समानो हृदयानि व। समानमस्तु वो मनो पथा व सुसहासुति।। इस मंत्र के द्वारा ऋषियों ने समभाव सदभाव का सन्देश सदियों पूर्व दिया था। संयुक्त राष्ट्र संघ के सार्वभौमिक घोषणा पत्र के प्रथम व सातवाँ अनुच्छेद ऋग्वेद के इसी मंत्र से लिये गये हैं।

अथर्ववेद के समाज्ञान सूक्त में भी समानता के अधिकार को पुष्ट किया गया-- समानो प्रपा सह वोज भागः। समानो योक्त्रे सह धो चूनज्मि आराः नाभि मिवानिता।। अर्थात् भोजन एवं जल में सभी को समान अधिकार है। जीवन रूपी रथ का जुआ सभी के कंधों पर समान रूप से टिका है और जिस प्रकार रथ के पहिए के आरे और धुरी परस्पर जुड़कर एक-दूसरे का सहयोग करते हैं, ठीक उसी तरह सभी व्यक्तियों को सामंजस्यपूर्ण ढंग से एक-दूसरे की सहायता करनी चाहिए। अथर्ववेद में इस तथ्य को विवेचित किया गया कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और ईश्वर उसी से प्रेम करता है, जो मनुष्य-पशु और अन्य जीवों की सेवा करते हैं। मनुष्य का गौरव बड़े परिवार का सदस्य बनने पर है।

महाभारत में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के

चार प्रकार के कर्तव्य हैं - ईश्वर के प्रति, माँ-बाप के प्रति, शिक्षकों के प्रति एवं मानवता के प्रति । 'हितोपदेश' में शिक्षा के महत्व को स्पष्ट करते हुये लिखा गया कि-- माता बैरी पिता शत्रुः बेन बालो न पठितः। अर्थात् जिनके माता-पिता ने अपने बच्चों को शिक्षा ग्रहण नहीं करवाई है, वे उनके दुश्मन हैं। 'धर्मकोश' में धार्मिक स्वतन्त्रता का उल्लेख करते हुये लिखा गया--- पाषंअनैगत श्रेणी पूगब्रात गणदिषु। संरक्षेत् समयं राजा दुर्गे जनपदे तथ।। अर्थात् राजा वेद को मानने वालों और न मानने वालों, दोनों का संरक्षण करें। इस श्लोक में सर्वधर्म समभाव का भाव निहित है। इसी तरह मनुस्मृति में है कि--- क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनाम्। निर्दिष्ट फल भोक्ता हि राजा धर्मेण युज्जते।। अर्थात् राजा का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी प्रजा का संरक्षण है। जो राजा अपनी प्रजा से कर प्राप्त करता है तथा उसका संरक्षण करता है, वह धर्मानुसार कार्य करता है।

अग्नि संहिता में न्याय की व्याख्या करते हुए कहा गया कि-- दृष्टस्य दंडः सृजनस्य पूजा न्यायेन कोषस्य च स प्रवशदिः। अपक्षपातोअर्थिषु राष्ट्र रक्षा पंचैव यज्ञा कथिता नश्पाणाम्।। अर्थात् दुष्टों को दण्ड देना, भले लोगों का सम्मान करना, न्यायपूर्ण तरीकों से कोष में वृद्धि करना, मुकदमें का निर्णय करने में निष्पक्ष होना तथा राज्य की सुरक्षा करना राजा के कर्तव्य हैं। कात्यायन की स्मृति एवं कल्हण की राजतरंगिणी में भी स्पष्ट किया गया है कि राजा का कर्तव्य है कि वह नागरिकों के अधिकारों को संरक्षण प्रदान करते हुये उनका संवर्द्धन करे। स्त्री व राज्य या मन्दिर की सम्पत्ति हड़पने वाले को कात्यायन ने दण्डित करने की बात कही है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में किसी महिला के साथ बलात्कार करने वाले को मृत्युदण्ड देने का प्रावधान किया गया है। कात्यायन ने कहा है कि यदि कोई राजा धर्म के अनुसार लोगों के कार्यों की समीक्षा करता है तो लोग स्वतः अच्छा आचरण करते हैं और खुश रहते हैं। नारद स्मृति में भी स्वीकार किया गया कि राजा मुकदमे का अध्ययन करके व प्रधान न्यायाधीश के परामर्श के अनुसार निर्णय दे।

शुक्रनीति में कहा गया कि उचित मजदूरी वह है जिससे जीवन की आवश्यकतायें पूरी हो जायें। अतः राजा को मजदूरी का निर्धारण करना चाहिए क्योंकि कम मजदूरी, दुर्व्यवहार, अपमान, अपशब्द, ज्यादा जुर्माना एवं कठिन दण्ड से कर्मचारियों में रोष व्याप्त होता है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने बन्दियों के भी अधिकारों की व्याख्या की। उन्होंने माना कि यदि कोई अधिकारी कैदियों की नित्यक्रिया यथा-- सोना, बैठना, भोजन करने में बाधा पहुँचाता है तो उसे तीन पण या उससे अधिक के जुर्माने का दण्ड दिया जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति और नारद स्मृति में भी मानवाधिकार की व्याख्या की गयी है। उपासना का विचार हिन्दू शास्त्रों में न होने जैसा है। पतंजलि ने समाज में सन्तुलन और अनुशासन रखने के लिए अहिंसा, सत्य, संयम रखना, अहंकार न करना व चोरी का निषेध पाँच नियमों की चर्चा की है।

अथर्ववेद में राजा को सभी का प्रिय रहने तथा आर्यों एवं शूद्रों में भेदभाव न करने का आदेश दिया है। ऋग्वेद में कहा गया कि राजा ऐसी व्यवस्था करे जिससे सभी को भोजन प्राप्त हो सके। अथर्ववेद में राजा एवं प्रजा दोनों के नियन्त्रण को स्वीकार करते हुये कहा गया कि राजा और प्रजा दोनों अति न करें। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने माना कि वास्तविक राजधर्म तभी आस्तित्व में आ सकता है जब राजा प्रजा के सुख में ही अपना सुख समझे--- प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्माप्रिय हितं राज्ञः प्रजाना तु प्रिय स्तिम्।। वाल्मिकी रामायण में भगवान राम ने लक्ष्मण को सलाह दी है कि ऐसा कोई हथियार न उठाये जिससे समस्त मानवता के साथ-साथ निःशस्त्रों का विनाश होता हो क्योंकि प्राचीन युद्ध के नियमों में सामूहिक विनाश की मनाही है।

निःसन्देह प्राचीन भारतीय वाङ्मय परम्परा में मानवाधिकारों का अस्तित्व प्राचीनकाल से ही परिलक्षित होता है फिर भी कुछ पाश्चात्याभिमुखी विद्वानों को यह तथ्य असत्य, भ्रामक एवं अतिरंजित दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आधुनिककाल में मानवाधिकार का मुद्दा द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया लेकिन मानवाधिकार की जिस परम्परा के दर्शन हमें हमारे प्राचीन ग्रन्थों में होते हैं, उसके समक्ष मानवाधिकार की आधुनिक परिकल्पना बौनी दीख पड़ती है। मानवाधिकार सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने वेदों से लेकर परवर्ती संस्कृत साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राचीन भारतीय दर्शन में मानवाधिकार के विचारों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ऋग्वेद में नागरिक की तीन स्वतन्त्रताओं- शरीर, आवास व जीवन का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। भारतीय चिन्तन परम्परा में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का सम्मिलन किया गया जिसके द्वारा मानव का पूर्ण विकास सम्भव हो सके तथा मानव-मानव के मध्य भेदभाव का निषेध करते हुये सबके समान कल्याण की धारणा को विकसित किया गया है।

भारत में मानवाधिकारों का उत्स वैदिक साहित्य तथा पौराणिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में प्रतिपादित है। द्वितीय विश्वयुद्ध के विभत्सकारी व विध्वंसकारी, परिणामों को देखकर 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा राष्ट्रों के मध्य शान्ति एवं मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से मानवाधिकारों के लिए जो घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया उसके बीजांकुर हमें हमारे प्राचीन वाङ्मय में ही प्राप्त हो जाते हैं। वास्तव में भारतीय विद्वान मानवाधिकारों के प्रति पूर्णतः सचेत थे। मानवाधिकारों का पालन सभी के लिए विकास एवं शान्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। प्राचीन भारतीय साहित्य एवं दर्शन कर्मशीलता, सदाचार और उदात्त चरित्र को आधार स्तम्भ मानता है तथा स्पष्ट करता है कि कर्तव्य के बिना अधिकार की बात सर्वथा अनुचित है। यदि मनुष्य के अन्दर सत्य, अहिंसा, प्रेम, विनम्रता, दया, क्षमा, धैर्य एवं पवित्रता जैसे मानवमूल्य के संस्कार नहीं होंगे तो मानवाधिकारों की संकल्पना कभी भी सार्थक नहीं हो सकती। अतः मानवाधिकारों के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए वैदिक संस्कृति में व्याप्त मूल्यों को अंगीकार करना होगा ताकि समस्त प्राणियों में स्वतः लोकोपकारक वृद्धि होगी और हम सभी यह कामना कर सकेंगे कि---

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परसुव, यद भद्र तन्न आ सुव।।

सहायक स्त्रोत

1. गुरुदत्त--- 'धर्म, संस्कृति और राज्य', भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली, 1994। **2.** के.पी. जायसवाल-- 'हिन्दु पोलिटी', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2012। **3.** रामशरण शर्मा-- 'आस्पेक्ट ऑफ पोलिटिकल आडियाज एण्ड इन्सटीट्यूशनल इन एनसीएट इण्डिया', मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली. 1999। **4.** सुधारानी श्रीवास्तव--- 'मानव अधिकार', मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2009। **5.** सुभाष शर्मा--- 'भारत में मानवाधिकार', नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली, 2013। **6.** नरेन्द्र नाथ-- 'स्टडीज इन एनसिएन्ट हिन्दू पॉलिटी', इण्डियन रिप्रिन्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2005। **7.** राधावल्लभ त्रिपाठी--- 'संस्कृत वाङ्मय में मानवाधिकार विषयक सेमिनार', लखनऊ, 2010। **8.** प्रो. निर्मला सिंह---- 'प्राचीन भारतीय दर्शन में मानवाधिकार', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2015। **9**. कुमारी एकता--- 'प्राचीन भारत में मानवाधिकार' आईजेसीआरटी रिफर्ड जनरल में उद्धृत लेख, 2020। **10.** सत्यनारायण रावत--- 'भारत में मानवाधिकार', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 2015।

असिस्टेंट प्रोफेसर (राजनीति विज्ञान)
राजकीय महिला महाविद्यालय, झाँसी
मो.-9450503226
ई-मेलः arunkumarprajapati9@gmail.com

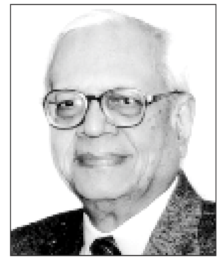

स्वामी विवेकानंद : दलितोत्थाना के प्रथम मसीहा

कमल किशोर गोयनका

हिन्दी में दलित साहित्य एवं दलित दर्शन की इधर खूब चर्च हो रही है और राजनीति के समान ही साहित्य में भी दलित- राजनीति उसके केन्द्र में आ गयी है। दलितों के मसीहा डॉ.अम्बेडकर ने अपने अनुनायियों के साथ 'मनुस्मृति' को जलाकर तथा 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' ने प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि' का दहन करके दलित समाज की राजनीति तथा साहित्यिक मापदंडों के प्रश्न को राष्ट्रीय चिन्तन का विषय बना दिया। ऐसी स्थिति में बौद्धिक एवं साहित्य-कला के क्षेत्र में डॉ.अम्बेडकर के बाद लेखकों की एक पीढ़ी सामने आयी जिसने कबीर को दलित-धर्म का प्रणेता-प्रवर्तक घोषित किया, दलित संत कवियों में दलित जीवन के तत्व खोजे और आधुनिक दलित चेतना के लिए डॉ.अम्बेडकर के साथ ज्योतिबा फुले, नारायण गुरु, पेरियार रामास्वामी नायकर, स्वामी अछूतानन्द, चाँद गुरु एवं गुरु घासीदास आदि को श्रेय दिया, लेकिन डॉ.अम्बेडकर के दलित-चिन्तन की तुलना में गांधी और उनके साहित्यिक अनुयायी प्रेमचंद की दलित-दृष्टि की कटु आलोचना भी उनके दलित-चिन्तन का अंग बनकर सामने आयी। डॉ.अम्बेडकर ने स्वयं गांधी को 'पतित व्यक्ति' तथा गांधी युग को 'अन्धकार युग' कहा था और उनकी दृष्टि में गांधी न तो 'महात्मा' थे और न 'राष्ट्रपिता' और न 'लोकमंगलकारी चिन्तक'। गांधी के अनुयायी प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' को जलाकर आज के दलित समाज ने भी कुछ ऐसी ही प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी। दलित चिन्तन के इस प्रवाह में दो-चार व्यक्तियों ने स्वामी दयानन्द के कर्मगत जाति-व्यवस्था तथा समानता के दृष्टिकोण की तो चर्चा की, किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि दलितोद्धार एवं दलित-अधिकारों के साथ ब्राह्मण-पुरोहितवाद तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध उद्धत एवं कठोर आवाज उठाने वाले स्वामी विवेकानन्द की किसी ने चर्चा तक नहीं की औंर उनके अत्यन्त आधुनिक दलित-दर्शन की भूमिका को किसी ने भी देखने समझने का प्रयत्न नहीं किया।

स्वामी विवेकानन्द उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में देश में दलित-चेतना के सबसे प्रबल उद्‌भावकों में थे और उन्होंने अपने दलित-दर्शन से स्वतन्त्र भारत की दलित-नीति की आधार शिला रख दी थी। स्वामी विवेकानन्द अपने विचारों में अत्यन्त आधुनिक थे और धर्म, आध्यात्मिकता, पूर्व-पश्चिम मिलन, ज्ञान-विज्ञान

आदि के समान ही दलित समाज को भी जड़ और पाखंडी पुरातनता से मुक्त कर नया रूप देने के लिए पूरे राष्ट्र को ललकार रहे थे। उनके दलित-दर्शन को समग्रता से देखने पर यही निष्कर्ष निकलेगा कि उस काल-खंड में स्वामी विवेकानन्द जैसा कोई दूसरा दलित-उद्धारक तथा दलितों का मसीहा नहीं हुआ।

स्वामी विवेकानन्द जैसे जाति-भेद को तोड़ने एवं मनुष्य मात्र की समानता का संस्कार ही लेकर पैदा हुए थे। नरेन्द्र (बाद में स्वामी विवेकानन्द) छह-सात वर्ष का ही था कि एक दिन पिता की अनुपस्थिति में उनके बैठकखाने में जाकर वह भिन्न-भिन्न जाति के मुवक्किलों के हुक्कों में मुँह लगाकर कश खींच रहा था कि पिता आ पहुँचे और पूछा कि यह क्या कर रहे हो तो बालक नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "देख रहा हूँ कि जाति नहीं मानने पर क्या होता है?" पुत्र की अद्भुत खोजपरकता तथा विकट समस्या का आश्चर्यजनक समाधान-कौशल देखकर पिता जोरों से हँसे और बोले, "बड़े दुष्ट हो रे"।[1] इसके उपरान्त स्वामी विवेकानन्द के जीवन में जाति और धर्म के भेदभाव के विरुद्ध अनेक घटनाएँ घटित होती हैं जिनसे उनका धार्मिक भेदभाव और अस्पृश्यता के विरुद्ध व्यक्तित्व पूर्णतः स्पष्ट दिखायी देता है। वे खान-पान में अस्पृश्यता के भी विरुद्ध थे और वे स्वयं मांसाहारी थे और तम्बाकू पीते थे। उनके गुरु स्वामी परमहंस ने एक बार नरेन्द्र के झूठे तम्बाकू को पीकर अस्पृश्यता के पाखंड का पर्दाफाश किया था और अभेद की शिक्षा दी थी।[2] स्वामी विवेकानन्द के हिमालय-भ्रमण पर एक मुसलमान ने उनकी खीर खिलाकर प्राण-रक्षा की थी और आबू में एक मुसलमान के यहाँ जब वे रहे, तो उन्होंने खेतड़ी नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी मुंशी जगमोहन लाल से कहा था, "मैं संन्यासी हूँ, मैं आप लोगों के सारे सामाजिक विधि-निषेधों से परे हूँ। मैं भंगी (मेहतर) के साथ भी भोजन कर सकता हूँ। इससे भगवान के अप्रसन्न होने का भय मुझे नहीं है, क्योंकि यह भगवान द्वारा अनुमोदित है। शास्त्रों से भी मुझे भय नहीं है, क्योंकि यह शास्त्र अनुमोदित है। फिर भी आप लोगों का और आप लोगों के समाज का भय मुझे अवश्य है। आप लोग तो भगवान और शास्त्र की भी परवाह नहीं करते। मैं तो देखता हूँ कि विश्व-प्रपंच में सर्वत्र ब्रह्म प्रकशित है। मेरी दृष्टि में ऊँच-नीच नहीं है। शिव, शिव।"[3] उन्होंने खेतड़ी राज्य के एक रेलवे स्टेशन पर एक 'दीन-हीन' चमार के हाथ का बना भोजन ग्रहण किया। हुआ यह था कि वे वहाँ तीन दिन तक धर्म-चर्चा करते रहे और किसी ने उनसे भोजन के लिए नहीं पूछा। इस पर उस 'दीन-हीन' चमार ने डरते-डरते उन्हें भोजन कराया। विवेकानन्द ने उस भोजन से देवराज इन्द्र द्वारा स्वर्ण पात्र में अमृत देने से भी अधिक तृप्ति का अनुभव किया और उनकी आँखों में आँसू आ गये, वे सोचने लगे कि ऐसे हजारों उच्च चेतना सम्पन्न व्यक्ति पर्णकुटियों में निवास करते हैं, किन्तु हमारी नजरों में वे बराबर घृणा और हीन रहे हैं। कुछ उच्च जाति के लोगों के आपत्ति करने पर विवेकानन्द ने उस चमार की मनुष्यता की प्रशंसा और आपत्ति करने वालों की नीचता की निन्दा की।[4] स्वामी विवेकानन्द अपनी खंडवा की यात्रा के बाद भी एक मेहतर के परिवार में कई दिन तक रहे और उन उपेक्षित नीच जाति के लोगों के हृदय की श्रेष्ठता देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। इस प्रकार ऐसी अनेक घटनाओं ने स्वामी विवेकानन्द के मन और विचारों को, देश की उपेक्षित, दलित एवं निर्धन जातियों का पक्षधर बना दिया, क्योंकि उन्होंने देखा और पाया कि नीची जातियों के व्यक्तियों में भी ऊँची मनुष्यता विद्यमान है।

स्वामी विवेकानन्द एक संन्यासी थे और उन्होंने विश्व के धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया था। वे हिन्दू धर्म को संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते थे और आध्यात्मिकता को उसका केन्द्रीय तत्त्व। देश की वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के दोषों के लिए उन्होंने धर्म को जाति के प्रसंग में सर्वथा निर्दोष पाया। उनका

कथन था कि धर्म का सम्बन्ध केवल आत्मा से है और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना उसका प्रयोजन नहीं है।[5] दोष यह है कि हमने इसके ज्ञान को व्यावहारिक रूप नहीं दिया तथा सहानुभूति एवं हृदय का उपयोग नहीं किया। इस स्थिति को हम धर्म-नाश करके नहीं वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों के अनुसार आचरण करके, उसके साथ बौद्ध धर्म की 'अद्‌भुत सहानुभूति' को संयुक्त करके ही दूर कर सकते हैं।[6] स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान इतने ऊँचे स्तर से मानवात्मा की महिमा की घोषणा करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और नीची जाति वालों का गला इतनी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है जो हिन्दू धर्म के अन्तर्भुक्त होते हुए भी ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते रहे हैं।"[7] स्वामी विवेकानन्द का वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार है कि "वर्ण-व्यवस्था ने हमें हिन्दू राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है"[8] 'धर्म में जाति-भेद नहीं है' तथा 'जाति एक सामाजिक संस्था मात्र है'[9] 'भारतीय समाज का आधार जाति नियम हैं'[10] 'आर्य सभ्यता का साधन है वर्ण-विभाग। भिन्न-भिन्न वर्णों में विभाजित करने का यह तरीका सभ्यता की सीढ़ी है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी-अपनी विद्वत्ता और संस्कृति के अनुसार उच्च से उच्चतर बन सकता है।"[11] 'जाति एक सामाजिक नियम, एक सामाजिक रूढ़ि है और गुण-कर्म का भेद ही इसका आधार है। इस व्यवस्था से समाज वर्गों में बँटकर भी एक जाति के सभी सदस्य एकता के सूत्र में बँधते हैं, व्यक्तिगत या सामाजिक प्रधानता के लिए संघर्ष नहीं होता और व्यवसाय वंशानुगत हो जाता है, परन्तु इसकी बड़ी हानि यह है कि प्रतियोगिता नष्ट हो जाती है जिसके कारण देश की राजनीतिक अवनति हुई और विदेशी जातियों से पराभूत होना पड़ा।[13] वे मानते हैं कि यह 'ईश्वर प्रदत्त एक सबसे महान समाजिक संस्था' है, किन्तु विदेशियों के अत्याचार तथा घोर अज्ञानी एवं अभिमानी ब्राह्मणों के कारण इसमें अनेक दोष-बाधाएँ आयीं, परन्तु यह संस्था अतीत के साथ भविष्य में भी अपने उद्देश्य में सफल होगी।[14]

स्वामी विवेकानन्द का मत है कि आरम्भ में सब ब्राह्मण थे तथा आर्यों में सर्वोच्च जाति ब्राह्मण थी। ये ब्राह्मण धार्मिक, नीतिवान, सदाचारी, सज्जन, उदार, निःस्वार्थी, ज्ञान एवं प्रेम-प्रसूत शक्ति के सम्पादक-प्रचारक तथा भगवान के भक्त होते थे[15] तथा ऐसे 'आध्यात्मिक साधन-सम्पन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं[16] क्योंकि वे 'ईश्वर के अंतरंग स्वरूप"[17] एवं 'मनुष्यत्व के परम आदर्श' हैं।[18] विवेकानन्द इसी 'ब्रह्मज्ञ पुरुष', इसी 'आदर्श और सिद्ध पुरुष' की रक्षा करना चाहते हैं और कहते हैं कि इसका लोप कदापि नहीं होना चाहिए। विवेकानन्द कहते हैं कि सच्चा ब्राह्मणत्व सद्‌गुणों का खजाना है और ब्राह्मण को इन सद्‌गुणों को संसार को बाँटना चाहिए। ब्राह्मणों ने जीवन के उच्चतर उद्देश्यों तथा संस्कृति के महत् तत्त्वों का खजाना जब से जनसाधारण के लिए बन्द कर दिया, तभी भारत गुलाम हुआ और अवनति हुई।[20] विवेकानन्द सबसे पहले ब्राह्मणों के धर्म पर एकाधिकार तथा उनके विशेषाधिकारों पर गहरी चोट करते हैं। वे यद्यपि यह मानते हैं कि ब्राह्मणों ने ही पहले भारत की सब जातियों में धर्म का प्रचार किया और सबसे पहले त्याग का उन्मेष किया तथा जीवन के सर्वोच्च सत्य के लिए सब कुछ छोड़ा। यह ब्राह्मणों का दोष नहीं था कि वे उन्नति के मार्ग पर अन्य जातियों से आगे बढ़े[21], परन्तु उनका दोष यह है कि उन्होंने संचित ज्ञान और संस्कार पर एकाधिकार करके अन्य जातियों को उससे वंचित कर दिया। यह अवसर, अग्रसरता एवं सुविधाओं का आसुरी दृष्टि से किया गया दुरुपयोग

था। विवेकानन्द कहते हैं कि ब्राह्मणों ने धर्म-शास्त्रों पर एकाधिकार जमाकर विधि-निषेधों को अपने हाथ में रखा और भारत की दूसरी जातियों को नीच कहकर उनके मन में विश्वास जमा दिया कि वे वास्तव में नीच हैं। यदि किसी व्यक्ति को खाते, सोते, उठते, बैठते हर समय कोई कहता रहे कि 'तू नीच है', 'तू नीच है' तो कुछ समय के पश्चात उसकी यही धारणा हो जाती है कि मैं वास्तव में नीच हूँ।[22] विवेकानन्द इस एकाधिकार को समूल नष्ट करने के लिए ब्राह्मणों का ही आह्वान करते हैं और उनका उद्बोधन करने के साथ उन्हें चेतावनी भी देते हैं। वे कहते हैं कि ब्राह्मणों ने धर्म पर एकाधिकार कर रखा है, पर वे अब काल प्रवाह के विरुद्ध अपना एकाधिपत्य नहीं रख सकते। अतः प्रयत्न करो, सबको वह धर्म प्राप्त हो जाये और अब्राह्मणों के मन में यह बैठा दो कि ब्राह्मण के समान उनका भी धर्म पर वही अधिकार है। सभी को, चाण्डाल तक को भी इन्हीं जाज्वल्यमान मन्त्रों का उपदेश करो और अग्नि-मन्त्र में दीक्षित करो। यदि तुम (ब्राह्मण) ऐसा नहीं कर सकते, तो धिक्कार है तुम्हारी शिक्षा और संस्कृति को, धिक्कार है तुम्हारे वेदों और वेदान्त के अध्ययन को।[23]

स्वामी विवेकानन्द मानते हैं कि ब्राह्मणों की प्रभुता की शक्ति महान बौद्धिक एवं मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति पर आधारित है, लेकिन इन प्रवृत्तियों के नष्ट होने से वे अपने लिए प्रभुता और अधिकार बटोरने ले में लग गये। ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हो गये कि किसी का वध करने पर भी उन्हें दंडित नहीं किया जा सकता था, ब्राह्मण जन्म से ही विश्व का स्वामी है तथा दुष्ट-से-दुष्ट ब्राह्मण की भी पूजा होनी चाहिए? ब्राह्मण ने 'महान त्याग रूपी महँगा मूल्य' देकर जिस प्रभुत्व-शक्ति को प्राप्त किया, उसे वह दूसरों को देने के लिए तैयार नहीं। ब्राह्मण ने अपने मानसिक ज्ञान को गुप्त रखा और उससे अन्यों को वंचित किया तथा अपने पूर्वजों के गौरव, अधिकार, सम्मान, सत्ता एवं एकाधिकार को बचाये रखा जिससे अन्य जातियों के साथ उसका घोर संघर्ष हुआ।[24] ब्राह्मण का यह एकाधिकार आनुवांशिक परम्परागत शक्ति-केन्द्र बन गया और ब्राह्मण 'अधिकार लिप्सा' एवं 'व्याघ्रवत तृष्णा' के केन्द्र बन गये।[25] विवेकानन्द कहते हैं, वेदान्त में किसी के लिए किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार का स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में एक ही शक्ति है-- किसी में अधिक प्रकट हुई है, किसी में कम। अतः वेदान्त के अनुसार, जन्मगत उच्च-नीच भेद का कोई अर्थ नहीं।[26] सभी दोषों की उत्पत्ति, जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं, भेद-भाव में विश्वास रखने के कारण होती है और समानत में, सर्व भूतों के अन्तःस्थित एकत्व में विश्वास करने से सर्व हितों की प्राप्ति होती है। यही महान वैदान्तिक आदर्श है।[27]

स्वामी विवेकानन्द विभिन्नता के प्राकृतिक सत्य को स्वीकार करते हैं, लेकिन वे कहते हैं कि सारा विश्व विभिन्नत में एकता का खेल है। यह सत्य है कि विभिन्नत या भेद विद्यमान है और जब तक जीवन है विभिन्नता रहेगी, किन्तु इन भेदों में ही और उनके भीतर से ही एकता का अनुभव करना होगा। वे मानते हैं कि जीवन में कभी एक समानत नहीं आ सकती, किन्तु किसी विशेष जाति के विशेषाधिकारों को दूर किया जा सकता है। सारे संसार में इसी का संघर्ष चल रहा है। मनुष्य का एक दल यदि अधिक बुद्धिमान है तो क्या इसके कारण दूसरे कम बुद्धिवालों से उनके भौतिक सुखोपभोग का भी अपहरण कर लिया जाये? इसी प्रकार कुछ मनुष्य अपनी विशिष्ट योग्यता द्वारा दूसरों की अपेक्षा अधिक धन एकत्र कर ले तो क्या यह उचित है कि वे उस शक्ति से अत्याचार करें तथा कम धन अर्जित करने वालों को बेतरह रौद दें? विवेकानन्द इस पर निष्कर्ष में कहते हैं कि दूसरो को दबाकर लाभ उठाना इसी विशेषाधिकार को नष्ट करना नैतिकता का सदा उद्देश्य रहा है। यही एक कार्य है, जो विभिन्नता का नाश किये बिना हमें समानता और एकता की ओर ले जायेगा।[28] वे चाहते हैं कि इन

विशेषाधिकारों की कब्र स्वयं ब्राह्मण ही खोदे और यह जितनी जल्दी होगा उतना ही बेहतर होगा, क्योंकि जितनी देर होगी, उतना ही वह सड़ेगा और उतनी ही बुरी मौत वह मरेगा।[29]

ब्राह्मण के विशेषाधिकार एवं प्रभुता तथा श्रेष्ठता के अहंकार के कारण ही हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता एवं छूआछूत का भयंकर रोग उत्पन्न हुआ। विवेकानन्द का मत है कि अस्पृश्यता सनातनी हिन्दू समाज का एक 'अविश्वास'[30] तथा 'कुसंस्कार'[31] है और हम अपने आपको 'मत-छूओवाद' में सम्मिलित नहीं करना चाहते। यह हमारे किसी ग्रंथ में नहीं है और इससे हमारी राष्ट्रीय क्षमता एवं योग्यता को बड़ी हानि पहुँची है। वे इसके लिए ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहते हैं, "ये हजारों ब्राह्मण भारतवर्ष के नीच, पददलित जनसाधारण के लिए क्या कर रहे हैं? उनके ओठों पर केवल 'छूओमत' वाक्य खेल रहा है। हमारा सनातन धर्म इनके हाथों कितना नीच और पतित बन गया है। हमारा धर्म अब कहाँ है, केवल 'मत छूओवाद' में, अन्यत्र कहीं नहीं।"[32] हिन्दुओं का वर्तमान धर्म वेद, पुराण, भक्ति और मुक्ति में न होकर केवल रसोई के बरतनों में घुसा हुआ है और ज्ञान-मार्ग एवं बुद्धि-मार्ग सब 'मत छूओवाद' में बदल गया है। जो धर्म दूसरों के केवल श्वास तथा स्पर्श से ही अपवित्र हो जाये, वह किसी को पवित्र कैसे बनायेगा? अतः विवेकानन्द कहते हैं, "देश में केवल छूआछूत पंथियों का दल रह गया है। ऐसे आचार के मुँह पर मार झाड़ू, मार लात। इच्छा होती है-- तेरे छूआछूत के पंथ की सीमा तोड़कर अभी चला जाऊँ- जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, हीन, दरिद्र हों, 'आ जाओ' यह कह-कह कर, उन सभी को श्रीरामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ, इन लोगों के बिना उठे माँ नहीं जागेगी। मैं दिव्य-दृष्टि से देख रहा हूँ, उनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म, एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की न्यूनाधिकता है।"[33] विवेकानन्द कहते हैं कि प्रत्येक हिन्दू दूसरे हिन्दू का भाई है, वह चाहे मोची, मेहतर, मूर्ख, निर्धन, अपढ़ या निम्न जाति का कोई भी भारतवासी हो, वे सब तुम्हारे भाई हैं, लेकिन 'छूओमत' की पुकार ने इन सब को नीचे गिरा दिया है और इस प्रकार सारा देश ही नीचता, कायरता तथा अज्ञान के गहरे गर्त में बिलकुल डूब गया है।[34]

विवेकानन्द ने 'पुरोहित' और 'पुरोहिती' की तीव्र भर्त्सना की है। वे पुरोहित को 'पाखंडी', 'बदमाश', 'कलियुगी राक्षस', 'निर्दय और हृदयहीन', 'छली', 'अधिकार लिप्सू' आदि शब्दों से परिभाषित करते हैं।[35] उन्होंने मानवता के आदर्श के रूप में ब्राह्मणत्व को स्वीकार किया है, परन्तु वे ब्राह्मणों की पुरोहिती को आनुवंशिक परम्परागत व्यवसाय', 'भेदभावपूर्ण असमानता के जनक तथा भयानक अधिकार लिप्सा एवं व्याघ्रवत तृष्णा' के केन्द्र मानते हैं।[36] पुरोहित का आदर्श रूप वह था जब वह देवताओं से सम्बन्ध स्थापित करता था और देवताओं के समान उसकी पूजा होती थी। वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति, ज्ञान, विद्या, प्रेम और त्याग-वैराग्य से सार्वजनिक हित एवं कल्याण की अपनी प्रवृत्ति को बढ़ाता था और उसे अपने जीवन-शोणित से उसके अंकुर को सींचता था, लेकिन अपनी प्रभुत्व शक्ति, विशेषाधिकार, अज्ञान, अकर्मण्यता, छल और पाखंड के कारण पुरोहित मकड़ी के समान अपने ही फैलाये हुए जाल में फँस गये हैं। उन्होंने जिस शृंखला से दूसरों के पैरों को बाँधा था, वह अब उन्हीं के पैरों को सहस्रगुना जकड़ रही है और उनकी गति का सैकड़ों प्रकार से अवरोध कर रही है। उस जाल को, शृंखला को तोड़-फोड़ दो, तब पुरोहित की पुरोहिती जड़ से हिल जायेगी।[37] विवेकानन्द ने स्पष्ट कहा कि पुरोहिती का छल भारत वर्ष के लिए अभिशाप स्वरूप है। इस पुरोहिती के छल को इस पुराने धर्म से उखाड़ फेंको तो तुम्हें संसार का सर्वोत्तम धर्म प्राप्त हो जायेगा।[38] वे कहते हैं, "उन्नति के सदा विरोधी पुरोहितों को धक्का देकर दूर हटा दो क्योंकि वे कभी सुधरेंगे नहीं। उनके हृदय कभी उदार नहीं होंगे। वे शताब्दियों के

कुसंस्कार और अत्याचार से उत्पन्न हुए हैं। पहले पुरोहिती के छल को जड़ से उखाड़ फेंको। आओ मनुष्य बनो।"[39]

स्वामी विवेकानन्द ने उच्च वर्ग अथवा आभिजात्य वर्ग एवं कुलीन वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य जाति को सम्मिलित किया है और निम्न वर्ग में सभी शूद्र जातियों, निर्धन एवं अशिक्षितों तथा ग्रामीणों की गणना की है। विवेकानन्द ने भारत की जनता को दो भागों में बाँटकर देखा है-- एक तो अभिजात्य अथवा कुलीन वर्ग और दूसरा किसान, श्रमिक, मेहतर, माली, मोची आदि का शेष निम्न वर्ग। इसीलिए वे कहते हैं कि आदर्श के एक छोर पर तो ब्राह्मण है और दूसरे छोर पर चाण्डाल; और सम्पूर्ण कार्य यही है कि इस निम्न वर्ग के चाण्डाल को उच्च वर्ग के ब्राह्मण तक ऊँचा उठा दिया जाये।[40] विवेकानन्द इस कुलीन वर्ग के इतिहास का अवलोकन करते हैं और पाते हैं कि उच्च वर्ग के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी निम्न वर्ग के प्रति घोर अपराधी हैं और वे 'दस हजार वर्ष पीछे के ममी अर्थात मृत शरीर' तथा 'सचल श्मशान' के समान हैं।[41] वे इस उच्च वर्ग को अनेक रूपों में स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "हे भारत के उच्च वर्ग वालो, तुम तो माया के इस संसार में मानो इन्द्रजाल हो, रहस्य हो, मरु-मरीचिका हो। तुम तो भविष्य के शून्याकार, सारहीन, आस्तित्व-रहित पदार्थ हो। स्वप्न राज्य के नागरिक! तुम लोग और अधिक समय तक क्यों भटक रहे हो? तुम भूतकालीन भारत के मृत शरीर के मांसहीन, रक्तहीन अस्थि कंकाल जैसे हो, तुम शीघ्र ही अपने को मिट्टी में मिलाकर हवा में अदृश्य क्यों नहीं हो जाते?"[42] विवेकानन्द मानते हैं कि उच्च वर्ग के लोग सजीव नहीं हैं, अतः वे उनके आर्यों की सन्तान होने के अहंकार तथा प्राचीन भारत के गौरव का अभिमान करने को निरर्थक एवं निष्प्राण मानते हैं। उच्च वर्ण के लोगों का क्या यही काम है कि वे निम्न जाति के लोगों की मनुष्यता नष्ट कर दें, उन्हें भिखारी बना दें, उन्हें ईसाई बनने पर विवश करें, उन्हें सदैव के लिए दास अथवा हिंसक पशु बना दें तथा उनमें मनुष्य होने का भाव ही खत्म कर दें।[43] वे उच्च वर्ण के ऐसे शिक्षित लोगों को 'घृणा के पात्र' कहते हैं जो निर्धनों एवं दलितों के खर्च पर शिक्षित हुए अथवा गरीबों को कुचलकर धनी बने हैं और फिर भी देश के बीस करोड़ निवासियों को भूखा और असभ्य बना रहने देते हैं।[44] इसलिए वे चाहते हैं कि देश का अभिजात वर्ग खुद ही अपनी कब्र अति शीघ्र खोदे अन्यथा देरी होने पर वह सड़ेगी और मृत्यु भी उतनी भयंकर होगी। विवेकानन्द बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि उच्च घराने में जन्म लेने वाले और विशेष अधिकार रखने वाले प्रत्येक जाति के लोग अपने ही हाथों अपनी चिता तैयार करना अपना प्रमुख कर्तव्य बना लें, यही अच्छा और उपयुक्त है।[45] इसका कारण यह है कि उच्च वर्ण के नाश के बिना नव भारत की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि नये भारत का उदय तो किसान, मछुआ, मोची, मेहतर, छोटे व्यापारी, श्रमिक आदि के हाथों से ही होगा। वे उच्च वर्ण के लोगों से इसी कारण कहते हैं, "तुम अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान में 'नव भारत' का उदय होने दो। उसका उदय हल चलाने वाले किसानों की कुटिया से, मछुए, मोचियों और मेहतरों की झोपड़ियों से हो। बनिये की दुकान से, रोटी बेचने वाले की भट्टी के पास से वह हो। कारखानों हाटों और बाजारों से वह निकले। वह 'नवभारत' अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो। ये साधारण होग सहस्रों वर्षों से अत्याचार सहते आये हैं और आश्चर्यजनक धैर्य-शक्ति प्राप्त कर ली है। वे सतत विपत्ति सहते रहे हैं, जिससे उन्हें अविरल जीवन-शक्ति प्राप्त हो गयी है। मुट्ठी भर अन्न से पेट भरकर वे संसार को कँपा सकते हैं, उनको तुम केवल आधी रोटी दे दो, और देखोगे कि सारे संसार का विस्तार उनकी शक्ति के समावेश के लिए पर्याप्त न होगा। उनमें 'रक्तबीज' की अक्षय जीवनशक्ति भरी

है। इसके अतिरिक्त, उनमें पवित्र और नीतियुक्त जीवन से आने वाला वह आश्चर्यजनक बल है, जो संसार में अन्यन्त्र नहीं मिलता। ऐसी शान्ति, ऐसा सन्तोष, ऐसा प्रेम और चुपचाप सतत कार्य करने की ऐसी शक्ति और कार्य के समय इस प्रकार सिंह-बल प्रकट करना-- यह सब तुम्हें अन्यन्त्र कहाँ मिलेगा?"[46]

स्वामी विवेकानन्द भविष्यवाणी करते हैं कि समय आ गया है कि अब शूद्रों का राज्य होगा। मानव समाज पर पुरोहित, योद्धा और व्यापारी शासन कर चुके हैं, अब शुद्र तथा निम्न वर्ग के लोग राज्य करेंगे। उन्हें अब कोई रोक नहीं सकता। जमाना बदल गया है। निम्न जातियाँ जागृत हो रही हैं और अपना यथोचित स्वत्व बलात् ग्रहण करने के लिए सामूहिक प्रयास कर रही हैं। अब उच्च जाति वाले नीच जाति वालों को और अधिक समय तक दबा नहीं सकते, अतः उनका कल्याण इसी में है कि निम्न जातियों की इस कार्य में सहायता करें।[47] वे कहते हैं कि 'गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुःखी ईश्वर के रूप हैं, 'दरिद्र' तो 'नारायण' है।[48] उनकी झोपड़ी में ही राष्ट्र बसता है।[49] उच्च वर्ण के अदृश्य होते ही तत्काल पुनर्जात भारतवर्ष करोड़ों गर्जनाओं के साथ यह उद्घोष करेगा-- 'वाह गुरु की फतह'।[50] विवेकान्दन इस विजय-घोष के मूल में उच्च वर्ण के लोगों के वे अत्यचार देखते हैं जो हजारों वर्षों से होते रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हमारे देश में नीच जाति में जन्म लेने का अर्थ है कि वह मानो सदा के लिए नष्ट हो गया, यह कैसा अत्याचार है?[51] देश के इन गरीबों का कोई विचार नहीं करता। वे ही तो देश के मेरुदंड हैं जो अपने परिश्रम से अन्न उत्पन्न करते हैं। ये मेहतर और मज़दूर, यदि ये लोग एक दिन काम बन्द कर दें तो शहर भर में घबराहट फैल जाये, पर उनके साथ सहानुभूति रखने वाला कौन है? इस देश में दस-बीस लाख साधु और दस-एक करोड़ ब्राह्मण इन गरीबों का रक्त चूसते हैं, पर इनके सुधार का रत्ती-भर भी प्रयास नहीं करते, यह कोई देश है या नरक? यह धर्म है या शैतान का नग्न नृत्य?[52] वास्तव में, देश के नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर भी उच्च वर्णीय समाज के भाई हैं और सभी का रक्त एक ही है। अतः ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्ण का यह दायित्व है कि वे दूसरी जातियों के उद्धार की चेष्टा करें[53], प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया जाये[54], ऊँची श्रेणी को नीचे खींचने के स्थान पर नीची श्रेणी वालों को ऊपर उठाया जाये[55], निर्धनों-अशिक्षितों को भोजन एवं शिक्षा दी जाये[56], पददलितों को सहानुभूति दें और उनका दुःख दूर किया जाये[57], निम्न जाति को धर्म-दान, विद्या-दान एवं ज्ञान-दान देकर उन्हें जागृत किया जाये[58], देशकाल के उपयुक्त एक नवीन स्मृति की रचना करनी होगी[59], पुरोहिती के छल-प्रपंच-पाखंड को जड़मूल से उखाड़ फेंकना होगा[60], नीच जाति का धर्मान्तरण रोकना होगा[61], उसके खोये मनुष्यत्व को जाग्रत करना होगा[62], हम सभी को 'मनुष्य' बनना होगा। हमें ऐसे धर्म, सिद्धान्त तथा शिक्षा की आवश्यकता है जो हमें मनुष्य बना सके। हमें जो भी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये वह विष के समान त्याज्य है। मनुष्य, केवल मनुष्य भर चाहिए। शेष सब कुछ अपने आप हो जायेगा।[63]

स्वामी विवेकानन्द की प्रबल आकांक्षा थी कि बड़ी जातियों और छोटी जातियों में भाई-चारे की भावना का विकास हो, पारस्परिक सहानुभूति और प्रेम हो तथा उच्च जाति के लोग गाँवों में जाकर वहाँ घुल-मिल जायें, क्योंकि देश के दारिद्रय और अज्ञता को देखकर उन्हें नींद नहीं आती थी। विवेकानन्द को ब्राह्मणों ने उनके इन विचारों एवं कार्यों के लिए 'शूद्र' कहा तो वे इससे दुःखी नहीं हुए और इसमें उन्होंने गरीबों पर अपने पूर्वजों द्वारा किये अत्याचारों का प्रतिकार माना।[64] उन्हें निम्न जातियों की शक्ति और क्षमता पर विश्वास था। वे साधारण जनता को 'जाग्रत देवता' कहते थे और इस विराट जनसमूह की पूजा

करने का उद्‌बोधन करते थे।[65] विवेकानन्द एक प्रकार से इन निर्बलों को सबलों से अधिक अवसर देने के पक्ष में हैं जो आज की आरक्षण-नीति से भी आगे बढ़ा हुआ कदम है। वे स्पष्ट कहते हैं कि सबल ब्राह्मण को शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी निर्बल चाण्डाल के लड़के को। यदि ब्राह्मण के लड़के को एक शिक्षक चाहिए तो चाण्डाल के लड़के को दस, क्योंकि अधिकतम सहायता उसे मिलनी चाहिए जिसे प्रकृति ने जन्म से कुशाग्र बुद्धि नहीं दी है। यदि ब्राह्मण की शिक्षा की योग्यता आनुवांशिकता के कारण एक परिया से अधिक है तो ब्राह्मण पर शिक्षा के लिए व्यय करना बिल्कुल बन्द कर दो, सारा खर्च परिया की शिक्षा के लिए लगाओ। दान दुर्बल को दो, क्योंकि सारे दान की आवश्यकता वहाँ है। यदि ब्राह्मण जन्म से बुद्धिमान है तो वह बिना सहायता के शिक्षित बन सकता है, और यदि दूसरे लोग जन्म से बुद्धिमान नहीं हैं तो सारी शिक्षा और सभी शिक्षक, जितना उनको आवश्यक हो, उन्हीं के लिए रहे। यदि इसके बाद कुछ शेष रहे तो शिक्षित-सभ्य लोगों के लिए किया जाना चाहिए।[66] विवेकानन्द शूद्र समाज को एक दृष्टि से सावधान भी करते हैं। वे कहते हैं कि शूद्र जाति के असाधारण बुद्धि और योग्यता वाले मनुष्यों को उच्च वर्ग वाले उन्हीं पदवियों से सम्मानित करके अपने वर्ग में उठा लेते हैं और इस प्रकार शूद्र समाज उनकी बुद्धि और गुणों से वंचित हो जाता है। प्राचीन काल में वशिष्ठ, नारद, सत्यकाम जाबाल, व्यास, कृप, द्रोण,कर्ण आदि विद्वान एवं पराक्रमी होने के कारण ब्राहाण या क्षत्रिय पद पर प्रतिष्ठित कर दिये गये, पर इससे उनकी वेश्या, दासी, ढीमर या सूत जाति को क्या लाभ हुआ? इसके विपरीत यह भी होता था कि उच्च वर्ग के पतित मनुष्य सदैव शूद्रों के पद पर नीचे उतार दिये जाते थे। इस कारण वे चाहते हैं कि शूद्र जाति की सम्पत्ति, विद्या या बुद्धि की शक्ति का उपयोग उसी समाज की भलाई के लिए ही होना चाहिए।[67]

स्वामी विवेकानन्द बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही देश की नये युग की नयी दलित चेतना को रूप देते हैं और उस काल-खंड में दलितों के सबसे बड़े मसीहा बनकर सामने आते हैं। विवेकानन्द हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक धर्म-प्रचारक थे, परन्तु उनके पास भारत का एक आधुनिक बिम्ब भी था। वे वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे तथा जाति-व्यवस्था को एक श्रेष्ठ व्यवस्था मानते थे, परन्तु जाति-भेद, जाति श्रेष्ठता, अस्पृश्यता आदि के लिए धर्म को नहीं, ब्राह्मणों और पुरोहितों को दोषी मानते थे। वे ब्राह्मणत्व को मानवता का आदर्श मानते हैं, परन्तु ब्राह्मणों के अहंकार, प्रभुत्व तथा अत्याचारों की भर्त्सना करते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि उच्च वर्ग के लोगों को इस देश से अदृश्य हो जाना चाहिए। यह बड़े साहस की बात थी जो एक संन्यासी ही कह सकता था। उनका दृढ़ विश्वास था कि निम्न वर्ग के मनुष्य उच्च वर्ग के लोगों से मनुष्यता, कर्मशीलता तथा सहनशीलता में श्रेष्ठ हैं, यद्यपि उन्हें शिक्षा से सुसंस्कृत और मनुष्य बनाने की आवश्यकता है। वे दरिद्र, निर्बल तथा अशिक्षित को 'नारायण' मानते थे और इस विराट जनसमूह को नवभारत का जनक मानते थे। उनका विश्वास था कि आने वाला युग दलितों, निर्बलों तथा शूद्रों का है तथा उनका राज्य स्थापित होगा। शूद्र जाग्रत होंगे और उन्हें राज्य करने से कोई रोक नहीं पायेगा। वे शूद्रों को शिक्षा आदि क्षेत्रों में आरक्षण के भी पक्ष में थे और उनका तर्क था कि दुर्बल को सबल की अपेक्षा अधिक अवसर मिलने चाहिए। यह आधुनिक भारत का दलित-दर्शन था जो एक संन्यासी ने दिया था। विवेकानन्द ने जिस स्पष्टता, निर्ममता एवं वैज्ञानिकता के साथ दलितोत्थान का विचार-पक्ष प्रस्तुत किया, वैसा बाद के दलित-सुधारक नहीं दे पाये। गांधी हिन्दू धर्म के अंग-भंग के बिना हृदय परिवर्तन से दलितोद्धार चाहते थे और मन्दिर-प्रवेश उनके लिए बड़ा मुद्दा था, जबकि डॉ.अम्बेडकर दलितों की हिन्दू समाज से अलग एक

स्वतन्त्र सत्ता चाहते थे और जाति-व्यवस्था का समूल उन्मूलन आवश्यक मानते थे। विवेकानन्द शूद्र जातियों को समाप्त करके सबको ब्राह्मण बनाना चाहते थे।[68] वे नीची जातियों को ऊँची जाति तक पहुँचाना चाहते थे। उन्होंने अनेक बार देशवासियों से कहा कि शूद्र एवं निम्न श्रेणी के लोग अवश्य ही जागृत होंगे और वे तुम्हारे अत्याचारों को समझ कर तुम्हें अपनी फूँक से ही उड़ा देंगे, अतः तुम्हें इन लोगों को विद्या-दान तथा ज्ञान-दान देकर जाग्रत करना चाहिए जिससे ये तुम्हारे प्रति कृतज्ञ बनें।[69] स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार अपने युगानुकूल दलित-दर्शन से एक नयी स्मृति की रचना की, जिसने गांधी, प्रेमचंद, अम्बेडकर आदि को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि नये भारत की दलित-चेतना की बुनियाद भी रख दी और वे आधुनिक दलित-विमर्श के प्रथम मसीहा बन गये।

सन्दर्भ

1. 'युगनायक विवेकानन्द', स्वामी गम्भीरानन्द, खंड-एक, पृष्ठ 38। **2.** वही, पृष्ठ 142। **3.** वही, पृष्ठ 273-74। **4.** वही, पृष्ठ 281-82। **5.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-2, पृष्ठ 328। **6.** 'युगनायक विवेकानन्द', खंड-2, पृष्ठ 6-7। **7.** वही, पृष्ठ 7। **8.** 'युगनायक विवेकानन्द', खंड-2, पृष्ठ 106-07। **9.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-1, पृष्ठ 24। **10.** वही, पृष्ठ 314। **11.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर, संस्करण 2002, पृष्ठ 4। **12.** वही, पृष्ठ 33-34। **13.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-1, पृष्ठ 274। **14**. 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 71। **15.** वही, पृष्ठ 5, 20। **16.** 'भारत और उसकी समस्याएँ', पृष्ठ 62। **17.** वही, पृष्ठ 62। **18.** वही, पृष्ठ 67। **19.** वही, पृष्ठ 67। **20.** 'जाति, संस्कृति, और समाजवाद, पृष्ठ 70-71। **21.** 'भारत और उसकी समस्याएँ', पृष्ठ 69-70। **22.** 'विवेकानन्द रचनावली', पृष्ठ 147। **23.** वही, पृष्ठ 129 तथा 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', 72-73। **24**. 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 37-40। **25.** वहीं, पृष्ठ 37। **26.** वही, पृष्ठ 46। **27.** वही, पृष्ठ 24। **28.** वही, पृष्ठ 48-49। **29.** वही, पृष्ठ 50। **30.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-4, पृष्ठ 264। **31.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 60। **32.** वही, पृष्ठ 64-65। **33.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-6, पृष्ठ 215 तथा 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 61। **34**. 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 21। **35.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-1, पृष्ठ 389 तथ 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 45। **36.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 37-38। **37.** वही, पृष्ठ 40-41। **38.** वही, पृष्ठ 22 तथा 42। **39.** वही, पृष्ठ 431। **40.** वही, पृष्ठ 9। **41.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-38, पृष्ठ 168। **42.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 86। **43.** 'वही, पृष्ठ 44, 79 व 84। **44.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-3, पृष्ठ 346 । **45.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 42। **46.** वही, पृष्ठ 86-87 तथा 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-8, पृष्ठ 168। **47.** वही, पृष्ठ 80-83 । **48.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-6, पृष्ठ 130। **49.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 82 । **50.** वही, पृष्ठ 87। **51.** वही, पृष्ठ 64। **52.** वही, पृष्ठ 43। **53.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-5, पृष्ठ 189-90। **54.** वही, खंड-4, पृष्ठ 253। **55.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 9। **56.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-3, पृष्ठ 346 । **57.** वही, खंड-2, पृष्ठ 322 व 337 । **58.** वहीं, खंड-6, पृष्ठ 108। **59.** 'युगनायक विवेकानन्द', खंड-3, पृष्ठ 182) । **60.** वही, खंड-1, पृष्ठ 371। **61.** वही, खंड-1, पृष्ठ 302-03 । **62.** वही, खंड-1, पृष्ठ 371। **63.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-5, पृष्ठ 118-20। **64.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 36। **65.** 'युगनायक विवेकानन्द', खंड-2, पृष्ठ 326-27। **66.** 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', पृष्ठ 73-75। **67.** वही, पृष्ठ 79-80। **68.** वही, पृष्ठ 19। **69.** 'विवेकानन्द रचनावली', खंड-6, पृष्ठ 108।

ए-98 अशोक विहार फेज-1
दिल्ली-110052
मो. 9811052469

●

वर्ण व्यवस्था में कायस्थों का स्थान

डॉ. मृणालिनी सोमनाथ

आधुनिक युग में इतिहासविद् और समाजशास्त्रियों की ऐसी धारणा बन गयी है कि भारतीय समाज प्राचीन काल से ही जातीय शृंखलाओं और वर्ण व्यवस्था की रूढ़िवादी परम्पराओं द्वारा जकड़ा रहा है, परंतु ऐसा नहीं था। हाँ, यह स्पष्ट है कि हिन्दू समाज में 12वीं सदी तक अनेकानेक जातियाँ हो गई थी जो पेशे के साथ साथ आचार-विचार में भी एक दूसरे से अलग थीं। निश्चय ही भेदभाव और उच्च-निम्न की भावना समाज में कठोर रूप से व्याप्त हो गयी थी। परन्तु भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन करने से हम देखते हैं कि हमारा समाज न केवल उदारवादी था बल्कि उसमें सार्वभौमिक धाराओं के लिए विलयन की संभावना ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण क्षेत्र उपलब्ध था। यह बात विशेष रूप से हमें कायस्थों के इतिहास और प्राचीन हिन्दू समाज व्यवस्था में उनके स्थान से स्पष्ट हो जाती है। किंवदन्तियां और मौखिक परम्पराओं को यदि त्याग दिया जाए और केवल ऐतिहासिक तथ्यों का सहारा लिया जाए तो हम पायेंगे कि विदेशों से आए हुए अनेक सम्प्रदाय, जन समूह, कबीले भारतवर्ष में आते रहे और यहाँ आकर नयी जाति के रूप में उभरते रहे और बाद में वे इसी विराट हिन्दू समाज के अविभाज्य अंग बन गए।

यदि यह भी मान लें कि कायस्थों के विभिन्न कुटुम्ब और गोत्र समय समय पर बाहर से आए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में बसने के पश्चात् उनका सामूहिक नाम कायस्थ पड़ा। इनकी विद्वत्ता तथा ज्ञानार्जन के कारण इन्हें राजदरबारों में और शासन में बहुत उच्च स्थान प्राप्त हुआ। यह बात तो कठोर तथ्य है कि आधुनिक युग में भी शिक्षा के क्षेत्र में कायस्थ अग्रगण्य हैं। 1823 में जब अंग्रेजी शिक्षा लागू की गई तो सबसे पहले कायस्थों ने तथा उनके घरों की महिलाओं ने अंग्रेजी शिक्षा का आलिंगन किया जबकि ब्राह्मणों ने विरोध किया कि जो अपने बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा दिलवाएंगे उनको क्रिश्चियन घोषित कर दिया जायेगा। इसी कारण से महादेव रानाडे जी को अपनी कन्या को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए अलग से विद्यालय खोलना पड़ा जो आज मुंबई का एस.एन.डी.टी. नाम से महिला विश्वविद्यालय बन गया है।

मंडल कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में माना है कि कायस्थ शिक्षा तथा संस्कृति की दृष्टि से बहुत आगे हैं और ये कभी भी पिछड़े वर्ग में नहीं रखे जा सकते। यद्यपि कायस्थों ने आरम्भ

से ही बहुत से महापुरुष प्रत्येक क्षेत्र में समाज को दिए हैं परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अभी तक विद्वान लोग इस विषय में कोई निर्णय नहीं कर पाए कि कायस्थ कौन से वर्ण में हैं, भिन्न- भिन्न विद्वानों तथा इतिहासविदों ने इस विषय में अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। यह निर्णय करने के लिए कि कायस्थों का वर्ण व्यवस्था में क्या स्थान रहा होगा तथा इनकी जाति किस वर्ण के अन्तर्गत आती है, पहले वर्ण व्यवस्था का एक संक्षिप्त सा विवरण आवश्यक है।

वर्ण व्यवस्था का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ब्राह्मण से क्षत्रिय स्त्री में 'मूर्धावसिक्त' और वैश्य वर्ण की स्त्री में 'अम्बष्ठ' उत्पन्न होता है। वह 'मूर्धावसिक्त' भी विप्रधर्मा है और इसलिए प्रतिग्रह, याजन, अध्यापनवृत्ति के योग्य होता है। मूर्धावसिक्त को मंत्री, सभासद, सचिव, सेनानायक, कोषरक्षक, योद्धा (जिसका अन्न भोजन ब्राह्मण कर सके), सर्व विद्यायों में विशारद और उपवेदों का उपदेशक माना गया है। प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ 'रजतरंगिणी' के लेखक कल्हण (11वीं शताब्दी) के समय में कुछ कायस्थ, जाति से ब्राह्मण माने जाते थे। प्रोफेसर पी.वी.काणे ने भी इस समस्या की ओर संकेत किया है। वे लिखते हैं कि माध्यमिक एवं आधुनिक काल में कायस्थों के उद्गम एवं उनकी सामाजिक स्थिति के विषय में बड़े-बड़े वाद-विवाद हुए हैं और भारतीय न्यायालयों के निर्णयों द्वारा भी कटुताएं प्रदर्शित हुई हैं। इलाहाबाद एवं पटना के हाईकोर्ट ने क्रमशः तुलसीदास बनाम बिहारीलाल एवम् ईश्वरीप्रसाद बनाम राम हरिप्रसाद के मुकदमों में कायस्थों को द्विज बताया, जिसका विस्तृत उल्लेख बहुत विस्तार से वर्तमान हिन्दू कोड के प्राक्कथन में दिया गया है।

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक, उत्तर से दक्षिण तक निरन्तर प्रवाहमान है। इस व्यवस्था ने समय-समय पर हिन्दू समाज की समस्त गतिविधियों को अपने विचारों एवं कार्यों से प्रभावित किया। फलतः देश में होने वाले अनेकानेक परिवर्तनों, संघर्षो तथा क्रान्तियों में इसकी क्रांतदर्शी भूमिका रही। कालान्तर में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक सभी अवस्थाओं का इसने अपनी वर्णगत व्यवस्था से किसी न किसी रूप में दिशा निर्देशन किया। अपने भेद-परक प्रभाव और महत्व को एक दूसरे वर्ण पर सिद्ध करने के लिए इस व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णों के कायिक और वाचिक परस्पर मतभेद और संघर्ष भी होते रहे तथा प्रतिस्पर्धा स्वरूप एक दूसरे वर्ग के विरुद्ध निराधार तर्क भी प्रस्तुत किये जाते रहे किन्तु इन भेदभाव की प्रणालियों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था की जड़ें कहीं से भी निर्बल नहीं पड़ीं, बल्कि परस्पर विचारों, निर्दिष्ट कार्यों और अधिकारों के संघर्ष से इस व्यवस्था की जड़ें और भी गहरी होती गई जो आज भी हिन्दू समाज में विद्यमान हैं। अपने मूल रूप में वर्ण संरचनात्मक सामाजिक व्यवस्था है । वर्ण व्यवस्था वह सामाजिक उपकरण है जिसके माध्यम से व्यक्ति की सामाजिक वृत्ति को अभिव्यक्ति मिलती है, वर्ण व्यवस्था का एक आधार गुण भी है। वर्ण के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों के अनुरूप स्थान मिलता है। समाज में व्यक्ति का प्रभाव और महत्व वर्ण के आधार पर निश्चित होता रहा है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान है तथा प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्तव्य भी है। वर्णों में विभाजित होने के बावजूद सभी वर्गो का अपना अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है इसलिए वर्ण की धारणा के समुचित स्पष्टीकरण के लिए वर्ण-व्यवस्था का स्पष्टीकरण आवश्यक है। समाज शास्त्रीय दृष्टि से वर्ण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से प्रत्येक वर्ग के लिए भी किया जाता है और इसी संदर्भ में वर्ण शब्द का सबसे अधिक प्रचलन है।

वर्ण शब्द वृन वरणे धातु से बना है अर्थात् वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति ब्री (बृ) धातु से की जाती है । ब्री (बृ) धातु का अर्थ है चुनना या चुना हुआ होना। मानव समाज के संदर्भ में वर्ण का आशय है-- वर्ग। वर्ण और वरण शब्दों में भी साम्य है, संभवतः वर्ण से तात्पर्य वृत्ति से है, किसी विशेष व्यवसाय को चुनने से है। अतएव समाज-शास्त्रीय भाषा में वर्ण का अर्थ चुने हुए वर्ग से है, जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध है। वास्तव में वर्ण उस सामाजिक वर्ग की ओर इंगित करता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान तय है, जो अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गो अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है और अपने हितों तथा स्थितियों के विषय में जागरूक होता है। संस्कृत साहित्य में, मानव समाज का वर्णन करने के लिए वहाँ 'वर्ण' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वर्ण से तात्पर्य-- वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा व स्थिति से है। अतः वर्ण व्यवस्था से तात्पर्य सामाजिक वर्गो की प्रतिष्ठा तथा उनकी कार्यात्मक महत्ता के अनुक्रम से है। इस प्रकार व्यक्ति अपने कर्म और स्वभाव के आधार पर जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, वही वर्ण है ।

सर्वप्रथम वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जो तत्कालीन समाज रचना के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है। उसमें वर्ण का प्रयोग रंग अथवा आलोक के अर्थ में हुआ है। प्रारम्भ में आर्य तथा दास, इन दो वर्णो का ही उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर आर्य और दास की अनेकता और भिन्नता वर्ण के रूप में दर्शित की गई है। डॉ. धुर्वे ने बतलाया है कि आर्यो ने यहाँ के आदिवासियों को पराजित करके उन्हें दास या दस्यु का नाम दिया तथा अपने और उनके बीच अन्तर प्रकट करने के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ रंग-भेद से है। वर्ण के इस अर्थ से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शब्द का प्रयोग आर्यो और दस्युओं के बीच पाए जाने वाले प्रजातीय अन्तर को स्पष्ट करने हेतु किया गया। फिर धीरे-धीरे वर्ण शब्द का प्रयोग नये अर्थो में होने लगा। उत्तर-वैदिक काल आते-आते आर्य और दास का विरोध और द्विवर्ण का स्वरूप समाप्त हो गया। इनके स्थान पर गुण तथा कर्म के आधार पर बने चातुर्वर्ण का उल्लेख होने लगा। फ्रांसीसी विद्वान इमाईल सेनाटे ने इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि आर्यो तथा दस्युओं के रंग को व्यक्त करने वाला शब्द वर्ण बाद में समाज के चार वर्गो को व्यक्त करने लगा। वास्तव में 'वर्ण' शब्द का अर्थ शाब्दिक दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। अलग-अलग सिद्धान्तवादियों ने अलग अलग ढंग से इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। हाँ यह बात सत्य अवश्य है कि वर्ण व्यवस्था का विकास धीरे-धीरे इतिहास की घटनाओं के संदर्भ में हुआ। इसे पूर्ण रूप से विकसित होने में सहस्रों वर्ष लगे। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार सभी वर्गो के कर्मो और कर्तव्यों को निर्धारित करने में अपार बुद्धि और विवेक की सहायता ली गई। विभिन्न वर्णो के कर्तव्य निर्धारण में गुणात्मकता, व्यवसायात्मकता, वैज्ञानिक पद्धति और समाज को दृढ़ आधारों पर खड़ा करने की आवश्यकता का प्रधानतः ध्यान रखा गया।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार कई रूपों में व्यक्त किए गए। वेद, उपनिषद, महाभारत तथा अन्य सभी धर्मग्रन्थों में इस व्यवस्था की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है । सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त, जिसको दैवी या परम्परागत सिद्धान्त कह सकते हैं ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलता है। इसके वर्णन के अनुसार वर्णो की उत्पत्ति विराट् पुरुष (ब्रह्म या परमेश्वर) से हुई है जिसके अनुसार विभिन्न वर्णो के पृथक-पृथक गुण तथा कर्म माने गए हैं। "ब्राह्मणोऽस्य मुखासीद् बाहूराजन्यः कृत। उरुदस्य उद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत"।।

वर्ण व्यवस्था की व्याख्या करने का दूसरा

सिद्धान्त गुण का सिद्धान्त है । एतदनुसार वर्ण-सृष्टि ईश्वरकृत है, तो भी यह गुणों के प्राधान्य पर आश्रित है। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल में गुणों की भी अभिव्यक्ति मानी गई है। मुनष्य अपने गुणों से महान होता है, न कि अपने वंश अथवा परिवार से। उसके अन्तः और बाह्य गुण ही उसको श्रेष्ठ पद की प्राप्ति कराते हैं । उसकी आन्तरिक प्रकृति, विभिन्न प्रवृत्तियां और विशेषताएं गुण को व्यक्त करती हैं। प्रकृतितः तीन प्रकार के गुण निर्दिष्ट किए गए हैं सत्व, रज और तम। मनु ने भी तीन प्रकार के गुणों की चर्चा की है। सात्विक गुणों से युक्त व्यक्ति ब्राह्मण माना गया है जो समाज में ज्ञान का प्रसार करता है, राजसी गुणों वाला क्षत्रिय है जो आन्तरिक तथा बाह्य खतरों से समाज का रक्षण करता है, राजसी व तामसी दोनों गुणों से युक्त व्यक्ति वैश्य भरण-पोषण का कार्य करता है और तामसी गुणों से समन्वित व्यक्ति शूद्र जो सबको सहारा देता है, माना गया। विष्णु पुराण में भी ऐसा विवरण मिलता है।

चातुर्वर्ण का विकसित रूप उत्तरवैदक काल में प्रारम्भ हुआ, यह काल ब्राह्मण और संहिता ग्रन्थों का समय है। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। तीसरी सदी ईसापूर्व तक आते-आते वर्ण व्यवस्था पूर्ण रूप से जन्मना और वंशानुगत हो गयी थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चारों वर्णों और उनके वर्णगत कर्मों का उल्लेख हुआ है। हर्षकालीन अभिलेखों से भी विदित होता है कि प्रभाकर वर्धन ने वर्ण-आश्रम व्यवस्था को स्थिर रखा था। इस तरह वर्ण व्यवस्था का विचार, जो एक लचीला विचार था वही जाति व्यवस्था का रूप धारण कर गया। सामाजिक स्तरीकरण के रूप में जो वर्ण व्यवस्था पाई जाती थी, उसने अपने लचीलेपन को खोकर एक ठोस क्रियात्मक रूप धारण कर गया।

'जाति' और 'वर्ण' को कुछ लोग एक दूसरे का पर्याय समझते हैं । उदाहरणार्थ के.एम.पन्निकर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को चार जातियाँ माना है। चतुर्वर्ण व्यवस्था को उन्होंने चतुर्जाति व्यवस्था कहा है। अपनी इस मान्यता के आधार पर उन्होंने यह लिखा है कि चतुर्वर्ण व्यवस्था केवल एक सैद्धान्तिक योजना है। यह वास्तविक व्यवहार से सम्बन्धित न होकर, जाति-आदर्श से सम्बन्धित है। उनका कहना है कि इतिहास के माध्यम से यह सिद्ध किया जा सकता है कि समाज का चार वर्णों में विभाजन कभी भी अस्तित्व में आया ही नहीं। पन्निकर चतुर्वर्ण व्यवस्था को एक समाज-शास्त्रीय परिकल्पना मानते हैं।

वर्ण विषयक इस धारणा से दो मान्यताएं निकलती हैं- एक वर्ण व्यवस्था ने ही जाति व्यवस्था को जन्म दिया है और दूसरी वर्ण जाति का ही दूसरा नाम है। मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों की ये दोनों मान्यताएं अमान्य हैं क्योंकि वास्तविकता यह नहीं है। साधारणतया वर्ण के लिए 'जाति' शब्द का प्रयोग किया जाता है । परन्तु इरावती कर्वे के अनुसार यह प्रयोग तर्क संगत नहीं है। वह कहते हैं कि वर्ण और जाति, हिन्दू विचारधारा में दो अलग-अलग प्रमेय हैं। प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में केवल वर्ण का प्रयोग मिलता है, बाद में संस्कृत, पाली और प्राकृत साहित्य में एक ओर वर्ण शब्द का प्रयोग मिलता है और दूसरी ओर 'जाति', 'कुल' योनि का। इसमें सबसे अधिक प्रयोग 'जाति' शब्द का ही मिलता है। यहां जाति का प्रयोग उन समूहों के लिए किया गया है जिनका आधार जन्मजात सामाजिक स्तर है। जाति और वर्ण, ऐसा प्रतीत होता है कि दो संस्कृतियों की अलग-अलग सामाजिक प्रणालियां है जिनका सम्मिलन भारत में हुआ। हट्टन के अनुसार वर्ण की वह प्रकृति नहीं है जो जाति की है। केवल एक सीमा तक ही वर्ण को जाति कहा जा सकता है, फिर भी किसी दशा में वर्ण जाति नहीं है। एक सामाजिक इकाई के रूप में वर्ण जाति से अधिक व्यापक और अनिश्चित है। हम यह भी कह सकते हैं कि वर्ण संयोजक है और जाति विभाजक है। वर्ण और जाति का भेद बताते हुए डॉ. एन.के. दत्त कहते हैं

कि एक जाति के सदस्य उस जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते हैं, अन्य जातियों के लोगों के साथ भोजन करने और पानी पीने के सम्बन्ध में इसी प्रकार का, लेकिन कुछ कम कठोर नियंत्रण है, अनेक जातियों के कुछ निश्चित व्यवसाय हैं, जातियों में संस्तरणात्मक श्रेणियां हैं, जाति का निर्णय जन्म से होता है।

एम.वी.केलकर का विचार है कि जाति एक सामाजिक वर्ग है जिसकी दो विशेषताएं हैं-- (1) इसकी सदस्यता उन्हीं लोगों तक सीमित होती है जो इसमें उत्पन्न होते हैं तथा इस प्रकार से उत्पन्न समस्त व्यक्ति इसके अन्तर्गत आते हैं और (2) इसके सदस्यों को कठोर सामाजिक कानूनों के द्वारा वर्ग के बाहर विवाह करना निषेध है। इन समस्त वर्गों के विशेष नाम होते हैं, जिनके द्वारा वे पुकारे जाते हैं। जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में, सभी विद्वानों ने अपने सिद्धांत को प्रमाणित करने में जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के किसी विशेष कारण पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया है। वास्तव में इस जटिल संस्था का उद्भव और विकास किसी एक तत्व के कारण नहीं बल्कि अनेक कारकों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप हुआ है । इसलिए किसी एक कारक पर जोर देने वाला सिद्धांत निश्चित रूप से दोष पूर्ण है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस संस्था की उत्पत्ति किसी निश्चित काल में नहीं हुई बल्कि एक लम्बी अवधि में इसका विकास हुआ है जिसमें अनेक कारकों का योग रहा है। जाति-व्यवस्था एक उद्विकासीय प्रक्रिया का परिणाम है। हजारों वर्ष के विभिन्न कारकों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप जाति व्यवस्था का विकास हुआ है। प्रारम्भ में यहाँ वर्ण व्यवस्था ही पाई जाती थी। धीरे-धीरे जब प्रजातीय सम्पर्क एवं सांस्कृतिक संघर्ष बढ़ने लगे, रक्त की शुद्धता एवं धार्मिक पवित्रता के विचारों को महत्व दिया जाने लगा, तब इनसे प्रभावित वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप भी बदलने लगा और उसमें अधिक दृढ़ता आने लगी, तब जाति व्यवस्था के अनेक लक्षण दिखाई पड़ने लगे। यह तो स्पष्ट है कि शुरू-शुरू में जब वर्ण थे, जातियाँ नहीं थी तब जातिभेद या उपजाति भी नहीं थी। जाति भेद या उपजातियां जातियों के बाद बनी। जातियों के बनने के अनेक कारण थे जिनमें से एक मुख्य कारण प्रजातीय अर्थात नस्ल का था, रक्त की शुद्धता का था। परन्तु संसार में सदा प्रतिबन्धक नियमों के होते हुए भी रक्त का सम्मिश्रण होता रहा है। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए अन्तर्जातीय विवाहों के सम्बन्ध में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के नियम बनाए गए। मनु ने इन्हीं अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों को वर्ण-संकर का आधार माना है (मनु. 10.40)। अन्य हिन्दू धर्माशास्त्रों ने भी उपजातियों की उत्पत्ति का उत्तरदायी वर्ण-संकरता को ही ठहराया है।

सर्वप्रथम मनु (10) एवं विष्णु धर्मसूत्र ने वर्ण संकर जातियों के व्यवसाय की चर्चा की है। मनु ने छः अनुलोम, छः प्रतिलोम एवं बीस मिश्रित जातियों के साथ तेईस व्यवसायों की चर्चा की है। याज्ञवल्क्य ने चार वर्णों के अतिरिक्त तेरह अन्य जातियों का उल्लेख किया है। छः अनुलोमों में से केवल तीन का नाम मनु ने दिये हैं यथा अम्बष्ठ, निषाद और उग्र। अम्बष्ठ की गणना कायस्थों की एक उपजाति के रूप में की जाती है। मेधातिथि (मनु. 10.31) ने लिखा है कि साठ मिश्रित जातियाँ हैं और इनसे तथा चार वर्णों के पारस्परिक सम्मिलन से बहुभेदी उपजातियाँ बनती चली गई। जातियों एवं उपजातियों के नामों की व्याख्या करना बहुत ही कठिन है। कहीं वे व्यवसाय की सूचक हैं तो कहीं देश-प्रदेश की। स्मृतियों के काल में जातियाँ विशेषतः विभिन्न व्यवसायों की ही परिचायक थी। मनु, याज्ञवल्क्य, वैखानस स्मार्त-सूत्र, उशना, सूत संहिता आदि में दी गई जातियों की सूची में से बहुत सी अब भी ज्यों की त्यों पाई जाती हैं।

जहां तक **कायस्थों के वर्ण निर्णय का प्रश्न** है,

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में चार वर्णों के निर्माण का उल्लेख किया गया है। परंतु इसमें कायस्थ शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि संस्कृत साहित्य में कायस्थ एक नया शब्द है। याज्ञवल्क्य संहिता में, जिसको 5वीं शताब्दी में लिखा गया था, कायस्थों का सबसे पहले राजकर्मचारी के रूप में वर्णन किया गया है। फिर क्षेमेन्द्र कृत नाम-माला में कायस्थों का विशद विवेचन मिलता है। इसके अनुसार उनका "गृहकृत्याधिपति" अथवा "गृह-कृत्यमहतम" का पद होता था। निस्संदेह कायस्थों का काम कर-संग्रहण या कानूनी दस्तावेजों के सचिव के रूप में काम करना, उनकी अलोकप्रियता का कारण था, लेकिन यह उनके चरित्र का आंशिक वर्णन है। गुप्तकालीन और बाद के अभिलेखों में कायस्थ जाति एक आदरणीय और लाभप्रद जाति के रूप में उभर कर आई। कायस्थ जाति के लोग मूलरूप से राजकीय सेवा से सम्बद्ध रहे। इनका सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य ने 'लेखक' के रूप में किया है। किन्तु उनका जो गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण मिलता है उसके अनुसार उनका प्रधान कार्य केवल लेखकीय ही नहीं था बल्कि वे लेखाकरण, गणना, आय-व्यय और भूमिकर के अधिकारी भी होते थे। संभवतः इस अलग तरह के कार्य के कारण उनका नाम चारों वर्णों में नहीं मिलता। लगता है कि उनका विकास अलग जाति के रूप में हुआ। गुप्तकालीन अभिलेख में उन्हें 'प्रथम-कायस्थ' या 'ज्येष्ठ कायस्थ' भी कहा गया है। लगता है कि वे गुप्त युग तक एक वर्ग के रूप में ही थे जो बाद में चलकर एक जाति के अन्तर्गत आ गए। इस अभिलेख में उनका सम्बन्ध क्षत्रियों से स्थापित किया गया है, जिसके अनुसार जब परशुराम ने इन निर्भीक क्षत्रियों को निकाल दिया तब ये कायस्थ कहलाए। उधर स्टीन और दत्त ने कायस्थ को ब्राह्मण वर्ण की एक शाखा माना है जो शासन कार्य में संलग्न थी। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि आरम्भ में कायस्थ कोई पृथक जाति नहीं थी बल्कि यह शब्द राजकीय समान कार्य करने वाला एक वर्ग बन गया जो अधिकारियों, गणकों, लेखकों इत्यादि का बोधक रहा। बाद में रक्त शुद्धता की रक्षा के लिए विभिन्न स्थानीय जातियों में बंटा हुआ "कायस्थ" इस सामान्य नाम से प्रसिद्ध, सरकारी लिखा-पढ़ी की वृत्ति वाला जनसमुदाय एक जाति में परिणित हो गया।

भारतरत्न महोपाध्याय डॉ.पी.वी. काणे (धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग, पृ.128) लिखते हैं कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में 'कायस्थ' शब्द सरकारी कर्मचारी के अर्थ में प्रयोग होता रहा है। इसका अर्थ यह है कि कायस्थ एक व्यवसायी वर्ग का नाम था जिसका अर्थ था-- 'निकायों में काम करने वाले', जो बाद में उसी प्रकार जाति बन गया जैसे सुनार, लोहार, तेली, चर्मकार आदि व्यवसायियों ने जाति का रूप ले लिया। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारियों का यह समूह एक जाति बन गया। कायस्थों को शासनिक और सर्वशास्त्रविद भी कहा गया है। काणे कायस्थों को एक अधिकारी के रूप में मानते हैं जाति के रूप में नहीं। ग्रामों तथा भूमियों का लेखा रखने के तथा भूमि निर्धारण के प्रलेखों का मसौदा बनाने के लिए बहुत सारे लेखक तथा अभिलेख संरक्षक नियुक्त करने पड़ते थे और यह सारा कार्य अधिकारियों के वर्ग द्वारा किया जाता था जिनको कायस्थ, करण, करणिक, अधिकृत, पुस्तपाल, चित्रगुप्त, लेखक, दिविर, धर्मलेखिन, अक्षरचन, अक्षपटलिक इत्यादि नामों से जाना जाता था। लगभग बारह प्रकार के अभिलेख रखने वाले लेखकों का एक वर्ग मिलकर कायस्थ कहलाता था। प्रो. काणे ने कल्हण का उद्धरण देते हुए कहा है कि (काणे 2.77) किसी ब्राह्मण को ही कायस्थ अधिकारी नियुक्त किया जाता था। धीरे-धीरे सभी वर्गों से भर्ती किए हुए लिपिक, एक सामाजिक वर्ण क्रम में बंध गए जिनको कायस्थ नाम दिया गया।

स्वामी विवेकानन्दजी ने अपनी जाति (कायस्थ)

का परिचय देते हुए बताया कि मैंने समाज-सुधारकों की एक पत्रिका में ऐसा पढ़ा है कि मुझे शूद्र कहा जाता है और मुझे चुनौती दी गई है कि शूद्र को संन्यास ग्रहण करने का अधिकार नहीं है, उसके उत्तर में मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं अपनी वंशावली ऐसे दिव्य पुरुष से जोड़ता हूँ जिसके प्रति प्रत्येक ब्राह्मण श्राद्ध-अन्न ग्रहण करने से पूर्व पुष्पांजलि अर्पित करता है और मंत्र उच्चारण करता है *'यमाय धर्मराजाय चित्रगुप्ताय वै नमः'*, यदि चित्रगुप्त को अर्पण किए बिना श्राद्धान्न ग्रहण करले तो नरक का भागी होता है। यदि इस चिन्तन में से मेरी जाति का योगदान तथा उसकी भूमिका निकाल दी जाए तो भारत की वर्तमान सभ्यता में क्या बचेगा। अकेले बंगाल में ही मेरे रक्त बन्धुओं (अर्थात् मेरी जाति के लोग) ने बड़े-बड़े दार्शनिक, महानतम कवि, उच्चतम विद्वान, इतिहासज्ञ, बड़े-बड़े पुरातत्व विशेषज्ञ तथा महान धर्मप्रचारक देश को दिए हैं। उन्होंने समाज को विखण्डित करने वालों को कहा कि शास्त्र के ज्ञाताओं को पता होना चाहिए कि तीन वर्णों को संन्यास लेने तथा वेद पढ़ने का समान अधिकार है। "परन्तु यह जाति ऊँच-नीच उन्होंने पैदा की है जो अपने जाति-अभिमान में हिन्दू समाज को तोड़ रहे हैं-- कायस्थ लोग इस भेद-भाव से बहुत ऊपर हैं।"

पुराणों में जो ब्रह्मा की काया से चित्रगुप्तजी की उत्पत्ति दिखाई गई है जो एक प्रतीकात्मक कथा है। ब्रह्मा के शरीर से पहले चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) उत्पन्न हुए। यह समाज का विराट रूप है और इस दृष्टि से हम काया का अर्थ नर-समूह ले सकते हैं। इसी समूह में प्रशासनिक दृष्टि में कुछ ऐसे लोगों का अभ्युदय हुआ जो बाद में चलकर कायस्थ कहलाए। इस से सिद्ध होता है कि बुद्धिजीवी, मंत्री अमात्य इत्यादि सम्पत् वाले वर्ग (जन समुदाय) का निकास-स्थान ब्राह्मण-वर्ण ही है अर्थात ब्रह्मा का कुल ही है। क्षत्रियों के लिए निषिद्ध कर्म का वर्णन करते हुए मनु ने ऐसी आज्ञा दी है कि ब्राह्मणों के कर्मों में से क्षत्रियों के लिए ये कर्म अविहित हैं-- पहला पढ़ाना और दूसरा यज्ञ कराना और तीसरा दान लेना (त्रयो धर्मा निवर्तन्ते त्यक्षत्रियं प्रति-अध्यापन, याजन च तृतीयश्च प्रतिग्रहः)। अगर कोई क्षत्रिय इसके विपरीत कार्य करता था तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता था क्योंकि पढ़ाने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। यदि कायस्थ क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत आते तो यह अध्यापन के अधिकारी ना होते जबकि नालन्दा विश्वविद्यालय के बौद्ध-कालिक कायस्थ अध्यापकों के कई उदाहरण मिलते हैं।

इन सारे उदाहरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि **कायस्थ मूलतः ब्राह्मण थे** जिन्होंने बाद में याजन और प्रतिग्रह के कर्म को त्याग दिया, दान लेना और मृत्यु भोज (तेरहवीं तथा श्राद्ध अन्न) को बिल्कुल त्याग दिया तथा अधिकरणों और निकायों (करण) तथा निगमों अर्थात दफ्तरों और प्रशासनिक कार्यालयों में स्थित होकर लेखन इत्यादि के कार्य को अपनी जीविका का साधन बनाया। इसी कारण से यह वर्ग कायस्थ-ब्राह्मण कहलाया और फिर धीरे-धीरे केवल कायस्थ बन कर एक अलग वर्ग माना जाने लगा। कायस्थ आज भी नौकरी पेशा वर्ग ही माने जाते हैं। अनेक इतिहासज्ञों ने तथा सूत्रकारों ने यह दर्शाया है कि बहुत से ब्राह्मण राज्य सेवा में संलग्न रहते थे और अपनी योग्यता तथा प्रतिभा से ऊँचे पदों को सुशोभित करते थे क्योंकि ये लोग निकायों में स्थित रहते थे, इसलिए उनको कायस्थ (निकाया-स्थ) कहा गया। कायस्थों को यदि वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत रखना ही है तो निकायस्थ ब्राह्मण कहा जा सकता है।

354-355/1, मसीता हाऊस
(समीप नरेश वर्मा एडवोकेट निवास)
थानेसर, (कुरुक्षेत्र)-136118
मो. 9466294006

●

वाल्मीकीय रामायण के समय स्त्री

डॉ. (श्रीमती) अरुणा - अरविंद कुमार

रामायणकालीन समाज में पुत्री के जन्म के समय खुशियाँ नहीं मनायी जाती थी, इसलिए नहीं कि पिता का प्यार पुत्री के लिए नहीं था, परंतु मुख्य कारण यह था कि पिता को पूरी जिंदगी पुत्री के लिए चिंता करनी पड़ती थी। कन्या के लिए उपयुक्त वर पाना अत्यन्त कठिन काम था। इसी चिंता के कारण माता-पिता कन्या नहीं चाहते थे।[1] अथर्व-संहिता में कहा गया है कि हमारे यहाँ पुत्र का जन्म हो और कन्या का जन्म किसी और के घर हो।[2] आगे चलकर बृहदारण्यक--उपनिषद् में पुत्र-कामना के साथ कन्या उत्पत्ति को भी आदर दिया गया है। वाराह-गृह्यसूत्र में बताया गया है कि अच्छी संतान विशेषकर सुन्दर कन्याओं की उत्पत्ति के समय वधूएँ दुंदुभि, गोमुख आदि वाद्यों का वादन कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करती थी। वैदिक संहिता काल में कन्या की तुलना में पुत्रोत्पत्ति को वरीयता देने के पीछे जो भावना काम करती थी, उसका मूल कारण यह था कि उस समय पितरों का श्राद्ध, तर्पण एवं पिण्डदान करने का अधिकार पुत्र को था कन्या को नहीं। पुत्र के जन्म पर हर्ष और कन्या के जन्म पर विषाद की भावना क्षणिक होती थी, क्योंकि जन्म के बाद कन्या के पालन-पोषण में माता-पिता का पुत्र की ही भाँति व्यवहार होता था।[3] भले ही रामायण-काल में पुत्री के जन्म के समय खुशियाँ नहीं मनायी जाती थी, फिर भी कन्या को शुभ माना गया। श्रीराम के राज्याभिषेक की वेला में कन्याएँ वहाँ उपस्थित थी। जब श्रीराम रथ पर बैठ कर आ रहे थे तो उनके आगे-आगे अन्य लोगों के साथ कन्याएँ भी चल रही थी--- "अक्षतं जातरूपं च गावः कन्याः सह द्विजाः। नरा मोदक-हस्ताश्च रामस्य पुरतो ययुः।।"[4] अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के आगे अक्षत और सुवर्ण से युक्त पात्र, गौ, ब्राह्मण, कन्याएँ तथा हाथ में मोदक लिए मनुष्य चल रहे थे।

रामायणकालीन समाज में कन्या-दूषण एक महान अपराध था और उसकी सजा भी होती थी। रामायण में राजा दण्ड द्वारा शुक्राचार्य की पुत्री अरजा को दूषित करने की कथा है। कन्या के न चाहते हुए भी बलवान राजा दण्ड ने उस भार्गव-कन्या को बलपूर्वक दोनों भुजाओं में भर लिया। वह उसकी पकड़ से छूटने के लिए छटपटाने लगी, फिर भी उसने अपनी इच्छानुसार उसके साथ समागम किया। इसके लिए शुक्राचार्य ने राजा दण्ड को कठोर दण्ड दिया--- "सप्तरात्रेण राजासौ सपुत्र-बल-वाहनः। पाप-कर्म-समाचारो वधं प्रास्यति

दुर्मतिः।।"[5] अर्थात पापकर्म का आचरण करने वाला यह दुर्बुद्धि नरेश सात रात के भीतर ही पुत्र, सेना और सवारियों सहित नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार उन ब्रह्मवादी शुक्राचार्य के शाप के अनुसार राजा दण्ड का राज्य, सवारियों सहित सात दिन में भस्म हो गया।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि पहले परम पुरुष (परमात्मा) एकाकी था। इस कारण आत्मा को उसने दो भागों में विभक्त किया पुरुष और स्त्री। ये एक दूसरे से मिले और एक दूसरे से मिलकर ही परिपूर्णता प्राप्त करते हैं---य इमयेवात्मानं द्वेधा पातयन्ततः पतिश्च पत्नी चाभवत्। तस्यादिदर्ध-वृगलमिव स्व इति स्माह याज्ञवल्क्यः।।[6] ये अकेले रहकर सृष्टि करने में समर्थ नहीं हैं। अतः विवाह संस्था द्वारा जब वे संयोजित होते हैं तब स्त्री नारी कहलाती है।[7] इस संसार में धर्म, अर्थ और काम पत्नी के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। इस तथ्य को स्वीकारते हुए श्रीराम ने एक स्थल पर कहा था- धर्मार्थ-- कामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्म-फलोदयेषु। ये तत्र सर्व स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा।।[8] पत्नी धर्म, अर्थ और काम तीनों का साधन होती है। वह पति के अनुकूल रहकर अतिथि सत्कार आदि धर्म के पालन में सहायक होती है एवं प्रेयसी रूप में काम का साधन बनती है। पुत्रवती होकर वह उत्तम लोक के प्राप्तिरूप धर्म की साधिका होती है। विवाह के दो प्रमुख उद्देश्य हैं-- पत्नी पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाती है तथा वह पुत्र की माता होती है और पुत्र ही नरक से रक्षा करता है। मनु के अनुसार पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द, अपने तथा अपने पूर्वजों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है।[9]

रामायणकालीन समाज में विवाह के योग्य होने पर पुत्री का विवाह पिता के द्वारा कर दिया जाता था। सीता एवं उनकी बहनों का कन्यादान पिता जनक द्वारा उनकी इच्छा जाने बिना ही हुआ था। सीता एवं उनकी बहनों के अतिरिक्त रामायण में अन्य भी कई ऐसे प्रसंग हैं, जहां पुत्री का विवाह उनके पिता द्वारा ही निश्चित हुआ है। कुशनाभ की पुत्रियों को देखकर वायुदेव ने उनसे विवाह का प्रस्ताव रखा। इस पर कुशनाभ की पुत्रियों ने स्पष्ट कह दिया कि उनके पिता ही उनके विषय में निर्णय लेंगे। पिता ही उनके प्रभु हैं। पिता का निर्णय उनके लिए शिरोधार्य है।[10] राजर्षि तृणबिन्दु ने महर्षि पुलस्त्य को अपना दामाद चुना था।[11] भरद्वाज ने विश्रवा के उत्तम आचरण से प्रसन्न होकर अपनी कन्यादान कर दी थी।[12]

वर-वधू में कुछ गुण अपेक्षित थे। उनमें सुन्दरता दोनों के लिए थी। वर के लिए कुलीनता, विद्वत्ता एवं विनम्रता भी अपेक्षित थे। वधू के लिए सुन्दरता के साथ शालीनता, अक्षत-योनि एवं शुभ-लक्षणों से युक्त होना विचारणीय विषय थे। सृष्टि का श्रीगणेश नारी एवं पुरुष दोनों के पारस्परिक गुणों के आधार पर ही माना जाता है। नारी सदा पुरुष की सफलता में सहायिका रही है। जीवन की ज्योति, शक्ति एवं प्रेरणा स्रोत नारी ने अपने सहज गुणों से सर्वदा पुरुष की सहज चेतना को प्रदीप्त किया है। समाज में नारी को जो सम्मान मिला है, वह उसकी साधना, सत्यता, सहनशीलता, सौम्यता, सौष्ठव आदि सहज गुणों का ही सुफल है। वैदिक-संहिताओं में पावनता की आगार नारी की अपने पति के प्रति अटल भक्ति परिलक्षित होती है। शुद्धता एवं नैतिकता की नींव बनी नारी विपत्तियों में महाक्रांति का रूप धारण कर महा-शक्ति में अवतरित होती रही है। अपने इन्हीं सहज गुणों के कारण नारी सहनशीलता के लिए वसुन्धरा से अपनी समता पाती रही है। भरण-पोषण का प्रतीक सर्वसहा पृथिवी ने जनकनन्दिनी सीता के रूप में, रत्नाकर ने सागर-तनया लक्ष्मी के रूप में तथा पर्वतराज हिमालय ने पार्वती के रूप में समाज में नारी के महत्व को सर्वोपरि माना है।[13]

रामायण के अनुसार आरम्भ में स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी अथवा मित्र मानी जाती थी। धीरे-धीरे क्रमशः पतिव्रता की धारणा बनने लगी। शिक्षा के

अभाव, धार्मिक अधिकार के समाप्त होने एवं बाल विवाह के कारण स्त्री ने अपना स्वतंत्र निर्णय एवं व्यक्तित्व खो दिया। वह अशिक्षित रह गयी, जबकि पुरुष विद्वान् बन गया। पति न केवल पत्नी का मित्र रह गया परंतु पत्नी का देवता माना जाने लगा।[14] रामायण में कई स्थानों पर इस प्रकार के प्रसंग आए हैं। 1. मर्ता हि दैवतम्,[15] 2. मर्ता प्रत्यक्षं दैवतम्,[16] 3. परमं दैवतं पतिः'[17] 4. ते दैवतं परम्, भर्ता हि परमं दैवतम्।[18] पति के प्रति अनन्य भक्ति ही पातिव्रत्य है। इसकी शिक्षा कन्याओं को बाल्यावस्था से ही दी जाती थी। सीता की माता ने इसकी शिक्षा उन्हें दी थी। वन जाते समय सीता ने इस प्रकार कहा था- इह लोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल। अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा।।[19] अर्थात् इस लोक में पिता आदि के द्वारा कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती है।

वन जाते समय राम अपनी माता कौशल्या से इस प्रकार की बातें करते हैं। वे कहते हैं - यावज्जीवति काकुत्स्थः पति मे जगती पतिः। शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः।।[20] अर्थात् मेरे पिता जगतपति ककुत्स्थ कुलभूषण महाराज दशरथ जब तक जीवित हैं तब तक उनकी ही सेवा करो। पति की सेवा ही स्त्री के लिए सनातम धर्म है। उन्होंने कहा कि पति-सेवा तो देवताओं की पूजा से भी बढ़कर है।[21] श्रीराम के साथ वनगमन चाहती हुई सीता ने कहा- मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्।।"[22] अर्थात् पिता, भाई और पुत्र, ये परिमित सुख प्रदान करते हैं किन्तु अपरिमित सुख प्रदान करने वाले पति का भला कौन स्त्री सत्कार नहीं करेगी!

पतिव्रता स्त्री पति के संग सभी प्रकार के कष्ट उठाने को तैयार रहती है। सीता ने पति के संग रहकर वन के सभी प्रकार के कष्टों को झेलना स्वीकार कर लिया। वे पति के सुख-दुःख में समान रूप से भागीदार होना चाहती थी।[23] पतिव्रता नारी सदैव अपने पति की मंगल-कामना करती रहती है। समय पड़ने पर पतिव्रता स्त्री पति को सही सलाह भी देती है। सीता ने अरण्य-काण्ड में राम से कहा कि वे दण्डकारण्य के निरपराध राक्षसों का वध न करें। सौदास की पत्नी ने अपने पति को वशिष्ठ मुनि को शाप देने से विरत कर दिया था- राजन् प्रभुर्यतो अस्माकं वशिष्ठो भगवानृषिः। प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देव-तुल्यं पुरोधसम्।।"[24] इस प्रकार पत्नियाँ अपने पतियों को यथावसर उचित सलाह अवश्य देती थीं। तारा अपने पति बालि को सुग्रीव एवं श्रीराम के साथ मित्रता करने के लिए समझाती है।[25] इस प्रकार मन्दोदरी ने भी रावण को समझाया था कि वह श्रीराम को सीता लौटा दे। रामायण-काल में सास-ससुर अपनी पुत्रवधू को पुत्री के समान प्यार करते थे और पुत्रवधू भी उनकी सेवा करना अपना परम कर्तव्य मानती थी।

माया द्वारा श्रीराम का कटा मस्तक जब सीता को दिखलाया गया तब अपनी सास का दुःख विचार करके वे विलाप करने लगी।[26] भाभी और देवर का संबंध उन दिनों माता और पुत्र के समान था। लक्ष्मण प्रतिदिन प्रातः उठकर सीता की चरण-वन्दना करते थे-- नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले। नूपूरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।।"[27] आए हुए अतिथि का आदर करना स्त्री का पुनीत कर्तव्य है। इस संदर्भ में शबरी का दृष्टांत दर्शनीय है। सीता ने वन में अतिथि के रूप में आए रावण का ब्राह्मणोचित सत्कार किया था।[28] माता का पुत्र के प्रति प्रेम सर्वविदित है। अपने पुत्र के लिए माता प्राण त्यागने में भी पीछे नहीं हटती। माता और पुत्र के निश्छल प्रेम के उदाहरण रामायण में कई स्थानों पर प्राप्त होते हैं।

हमारे ग्रंथों में बार-बार स्मरण दिलाया गया है कि नारी को अपने सर्व समभाव, शील, ममता आदि गुणों के कारण अहिंसनीय रहना चाहिए। नारीत्व के गौरव का स्मरण कर नारी को स्व-रूप में स्थित रहना

चाहिए, श्रेष्ठ शील धारण करना, प्रशंसनीय गुणों से युक्त तथा स्वीकरणीय होना चाहिए। व्यवहार में सबको आनंद प्रदान करने वाली तथा बहुश्रुत प्रशंसनीय तथा विज्ञानादि में रुचि रखने वाली होना चाहिए।[29] नर-नारी का संबंध बड़ा ही पवित्र माना गया था। पुरुष यदि गृह-स्वामी था तो नारी गृह-स्वामिनी। पुरुष यदि अन्नदाता था तो नारी साक्षात अन्नपूर्णा। भोजन बनाना, सीना-पिरोना, बच्चों का लालन-पालन, घर की देख-रेख के साथ अपने पति की पूर्ण मनोयोग से सेवा करना, ये सब संहिता काल से ही नारी का मुख्य धर्म था। सुशील पत्नी सहचरी के रूप में उचित परामर्श देकर घर को स्वर्ग बनाने की अदभुत क्षमता एवं सामर्थ्य रखती है।

संदर्भ

1. कुजूर डॉ. (श्रीमती) स्कॉलस्टिका, रामायणकालीन नारी, प्रकाशन ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 7। **2.** अथर्व वेद- 6/2/3। **3.** शर्मा डॉ. मालती- वैदिक संहिताओं में नारी, प्रकाशक- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी प्रथम संस्करण-1999, पृष्ठ 42। **4.** वाल्मीकि-रामायण-- 5/128/38 । **5.** वाल्मीकि-रामायण-- 7/81/7। **6.** बृहदारण्यकोपनिषद्-- 1/4/3। **7.** अथर्ववेद-- 14/12/63 । **8.** वाल्मीकि-रामायण- 2/21/57। **9.** मुनस्मृति-- 9/28। **10.** वाल्मीकि-रामायण-- 1/32/22। **11.** वाल्मीकि-रामायण-- 7/2/25। **12.** वाल्मीकि-रामायण- 7/3/37। **13.** वैदिक संहिताओं में नारी-- पूर्वोक्त, पृष्ठ--26 । **14.** रामायणकालीन नारी-- पूर्वोक्त, पृष्ठ--66 । **15.** वाल्मीकि-रामायण-- 2/39/31। **16.** वाल्मीकि-रामायण- 2/62/8 । **17.** वाल्मीकि-रामायण- 2/117/24 । **18.** वाल्मीकि-रामायण- 2/29/16। **19.** वाल्मीकि-रामायण-- 2/10/18 । **20.** वाल्मीकि-रामायण- 2/24/13। **21**. वाल्मीकि-रामायण-- 2/24/25-26। **22.** वाल्मीकि-रामायण-- 2/39/30 । **23.** रामायणकालीन नारी-- पूर्वोक्त, पृष्ठ 75 । **24.** वाल्मीकि-रामायण-- 7/65/30। **25.** वाल्मीकि-रामायण-- 5/7/30। **26.** वाल्मीकि-रामायण-- 6/92/56-59 । **27.** वाल्मीकि-रामायण-- 4/6/22। **28.** वाल्मीकि-रामायण-- 3/46/36। **29.** वैदिक संहिताओं में नारी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 23।

***सेवा-निवृत्त, सह आचार्य (संस्कृत)**
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बाड़मेर, राज.
***सहायक आचार्य (इतिहास)**
राजकीय महाविद्यालय, चौहटन
(बाड़मेर) राज.

प्रतिस्वर

'वैचारिकी' मई-जून 2023 अंक प्राप्त जो अपनी परंपरानुसार विद्वानों, शोध-छात्रों के साथ-साथ छात्रोपयोगी भी है। अध्यक्षीय में 'एक विस्मृत तारे को खोजने का प्रयास' नया उत्तम पठनीय है। अंक आध्यात्मिक विषयों से भी प्लावित है। पूरी पत्रिका का अवलोकन किया, सभी लेख विचारपूर्ण, अनुकरणीय हैं। संपादकीय ज्ञानवर्द्धन से सजा है। इससे उत्तम-उत्तम विचारों से हम अवगत होते हैं। 'ईष्या युग' जैसे लघु संवाद सत्य प्रकट करते हैं। कलियुग ईर्ष्यायुग ही है। उत्तम प्रकाशन हेतु साधुवाद।

बी. एस. शांता बाई
कर्नाटक महिला हिंदी सेवा समिति
178, चौथा मुख्य रास्ता, छठ्ठा क्रांस, चामराजपेट,
बंगलूर-560018, दूरभाष-802661777

पुराणों में नारी

डॉ. नीमा जोशी

पुराण भारतीय सहित्य के गौरव ग्रंथ हैं। पुराणों के अध्ययन के बिना कोई भी व्यक्ति विचक्षण नहीं माना जा सकता है। पुराणों की संख्या अट्ठारह है तथा उपपुराण भी अट्ठारह माने गये हैं। पुराण पंचलक्षणों से युक्त हैं - सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित। पुराण का प्रारंभ सर्ग (सृष्टि) से तथा अंत प्रतिसर्ग (प्रलय) से होता है। इन दोनों छोरों के बीच के विशाल कालखण्ड के मन्वन्तरों, राजवंशों तथा महत्वशाली राजाओं का विवरण देना ही पुराणत्व है। इनके अलावा भी कई प्रसंग पुराणों में दिये गये हैं जिनमें सामाजिक-पारिवारिक अवधारणाओं से भी संबंधित हैं। इनमें नारी से संबंधित मान्यताएं महत्वपूर्ण हैं। नारी में देवत्व की मात्रा स्वभावतः अधिक होने के कारण उसे पूज्य एवं पवित्र माना जाता है। माता, पत्नी, पुत्री, भगिनी के रूप में वह प्रत्यक्ष देवसत्ता है। नारी इन स्वरूपों में सदा अभिनंदनीय है पूजनीय है, पुराणों में नारियों के नाम के साथ देवी लिखने और संबोधित करने की परम्परा है। पुराणों में नारी को पूजनीय कहा गया है। *यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्वतत्राफलाः क्रियाः।।*[1] जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है (सम्मान होता है) वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहाँ किये समस्त (अच्छे) कर्म निष्फल हो जाते हैं।

पुराणकालीन समाज में स्त्री को सदैव अवध्या कहा गया। स्त्री का वध किया जाना अधर्म का कार्य था। विष्णु को देवासुर संग्राम में भृगुपत्नी का वध करने के कारण अपने देवत्व को त्याग कर मनुष्य योनि में सात बार जन्म लेना पड़ा था -*यस्माते जानता धर्मानवध्या स्त्री निषूदिता। तस्मात्वं सप्तकृत्वो वै मानुषेषु प्रपल्स्यासि।।*[2] तत्कालीन समाज में नारियाँ युद्ध कला में भी प्रवीण थी। विष्णु पुराण में एक स्थान पर वर्णित है कि द्वारका में श्रीकृष्ण द्वारा निर्मित दुर्ग में पुरुष सैनिकों के साथ-साथ स्त्री सैनिक भी नियुक्त किये गये थे - *तस्माद् दुर्ग करिष्यामि यदूनामरिदुर्जयम्। स्त्रियोऽपि यत्र युष्येयुः किं पुनर्वृष्णिपुंगया।।*[3] पुराणों में बताया गया है कि नारी गंगा के समान पवित्र है, वह सर्वत्र पूजनीय है। इस लोक की यही साक्षात् लक्ष्मी है - *गंगेव निर्मला नारी पूजनीया सदा-सदा। यतोहि सैव लोकेऽस्मिन् साक्षात् लक्ष्मी मता बुधैः।*[4]

नारियों में स्नेहप्रेम एवं वात्सल्य की मात्रा विशेष रूप से अधिक होती है तथा अत्यधिक मात्रा में धर्म की भावना भी उनमें निहित होती है। नारियों में अर्थतत्व भी विद्यमान रहता है अतः उन्हें गृहलक्ष्मी की संज्ञा दी गयी है। कामरूप होने से नारी संतान को जन्म देती है। शक्ति

रूप में लोक में प्रतिष्ठित होकर मोक्ष प्रदान करती है। स्कन्दपुराण में एक स्थान पर वर्णित है कि संसार की सम्पूर्ण नारियाँ माता तुल्य हैं, इनका तिरस्कार होने से कुलदेवियाँ रुष्ट हो जाती हैं। नारियों से सौ अपराध होने पर भी भूल से भी, उन्हें प्रताड़ित न करें, उनके दोषों पर ध्यान न दें, गुणों का सर्वत्र बखान करें। वस्तुतः स्त्री परिवार की धुरी है, स्त्री के बिना घर नहीं होकर वन बन जाता है - *माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनी। अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्।।*[5] अर्थात् जिस घर में माता नहीं है, प्रिय बोलने वाली पत्नी नहीं है, उन्हें वन में जाने की आवश्यकता नहीं, उनका घर ही वन (अरण्य) के समान होता है।

पुराणों में पुत्र से भी अधिक श्रेष्ठ पुत्री को माना गया है। स्कन्दपुराण के पार्वती वर्णन प्रसंग में कहा गया है कि एक कन्या दस पुत्रों के समान है। *दशपुत्रसमा कन्या दशपुत्रान् प्रवर्द्धयन्।*[6] भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में भार्या (पत्नी) का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उपवन में सुगन्धित फूलों का अभाव उपवन की शोभा को क्षीण करता है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में पत्नी का स्थान समाज एवं परिवार में श्रेष्ठतम है। गृहिणी यदि घर में नहीं है तो वह घर नहीं जंगल है। पुराणों में कहा गया है कि - *यत्र भार्या गृहं तत्र, पुरुषस्यापि नान्यथा। ग्रामेवाप्यथवाऽरण्ये, सर्वधर्मस्य साधनम्।।*[7] अर्थात् गाँव हो अथवा जंगल, पुरुषों के लिए सभी कर्त्तव्यों का साधन घर होता है। घर उसको कहा जाता है जहाँ पत्नी हो, पत्नी के अभाव में घर घर नहीं जंगल है। लगभग यही भाव स्कन्दपुराण में भी मिलता है, जिसमें गृहस्थ के सम्पूर्ण सुख का आधार पत्नी को बतलाया गया है -*भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च। भार्या धर्म फलावाप्त्यै भार्या सन्तान वृद्धये।।*[8] गृहस्थाश्रम का मूल भार्या (पत्नी) ही है। उसका निर्माण गृहस्थाश्रम के लिए ही हुआ है। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों की प्राप्ति पत्नी के द्वारा ही होती है - *पत्नी मूलं गृहं पुंसां यदिच्छन्दानुवर्तिनी। तथा धर्मार्थ कामानां त्रिवर्ग फलमश्नुते।।*[9]

पत्नी को पति की सहधर्मिणी माना जाता है। पत्नी के साथ गृहस्थ धर्म का पालन करने से महान फल की प्राप्ति होती है। ब्रह्माण्ड पुराण कहता है कि सपत्नीक पुरुष ही राज्याभिषेक का अधिकारी है?[10] छाया के समान पति का अनुसरण करना ही पत्नी का परम कर्त्तव्य माना गया है। मत्स्यपुराण में सावित्री उपाख्यान के सन्दर्भ में कहा गया है - *पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिरेव परायणम्। अनुगम्यः स्त्रिया साध्व्याः पतिः प्राणधनेश्वरः।।*[11] विष्णुपुराण में कहा गया है कि- *शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषाततत्परैर्द्विजसत्त माः। तथा स्त्रीभिरनायासात्पतिशुश्रूषयैव हि।।*[12] अर्थात् जिस प्रकार शूद्र सेवा कार्य से अनायास ही धर्मार्जन कर लेता है, उसी प्रकार स्त्री भी पति सेवा से धर्म अर्जित कर लेती है। पति यदि ओंकार है तो नारी वेदश्रुति है, पति यदि तपोरूप है तो नारी क्षमारूपिणी है, पति यदि फल है तो नारी सत्क्रिया है। हे पार्वती ! जो ऐसे हैं, वे दोनों ही नारी-पुरुष महाधन्य हैं - *तारः पतिः श्रुति नारी क्षमा सा स स्वयं तपः। फलम्पतिः सत्क्रिया सा धन्यो तौ दम्पति शिवे।।*[13] जिस घर में सदगृहिणी होती है वहाँ लक्ष्मी निवास करती है तथा उस घर में करोड़ों देवता निवास करते हैं और वे उस स्थान को छोड़कर नहीं जाते- *यद्गृहे रमते नारी, लक्ष्मीस्तद् गृह वासिनी। देवता कोटिशो वत्स न त्यजन्ति गृहं हितत्।।*[14]

जननी अथवा माता की महत्ता पुराणकालीन समाज में उच्चकोटि की थी। ब्रह्मपुराण में व्यास-जाबालि संवाद के रूप में एक आख्यायिका आती है। व्यास जी जाबालि को बताते हैं कि - *पितुरप्यधिका माता गर्भधारण पोषणात्। अतोहि त्रिषु लोकेषु नास्ति मातृ समो गुरुः।।*[15] अर्थात् हे जाबालि ! पुत्र के लिए माता का स्थान पिता से बढ़कर है क्योंकि वही उसे गर्भ में धारण करती है। अपने रस-रक्त और शरीर से ही नहीं, भावनाओं और संस्कारों से भी पालन-पोषण करती है, इसीलिए वह सर्वोपरि मार्गदर्शक और कल्याणकारी गुरु के रूप में प्रतिष्ठा की पात्र है। *'नास्ति पुत्र सम प्रिय '*[16] अर्थात् उसे पुत्र से बढ़कर और कोई प्रिय नहीं होता है। अतएव मनुष्य मात्र का

कर्तव्य है कि वह परम आध्यात्मिक शक्ति के रूप में माँ को प्रतिष्ठा प्रदान करे तथा प्रत्येक नारी में भाववत्सला माता का रूप देखे। मत्स्यपुराण में वर्णित है कि सृष्टि का व्यवस्थानुसार संचालन स्त्री विरहित स्थिति में अथवा स्त्री के बिना सम्भव नहीं है- *स्त्रिया विरहिता सृष्टिर्जन्तूनां नोपद्यते।*[17]

ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा गया है कि जन्मदाता और पालनकर्ता के रूप में जनक या पिता श्रेष्ठ है, परन्तु अन्नदाता पिता उससे भी अधिक श्रेष्ठ है, परंतु इन सबसे सौ गुना श्रेष्ठ माता है क्योंकि यह गर्भधारण करने के साथ ही पालन-पोषण भी करती है-*जनको जन्मदातृत्वात् पालनाच्च पिता स्मृतः। गरीयान् जन्मदातुश्च योऽन्नदाता पिता मुने।। तयो शतगुणे माता पूज्या मान्या च वन्दिता। गर्भधारण पोषाभ्यां सा च ताभ्यां गरीयसी।।*[18] नारी को सर्वाधिक आदर एवं सम्मान माता के रूप में प्राप्त हुआ। माता की आज्ञा तो सर्वथा अनुल्लंघनीय है, माता की महानता उसके द्वारा गर्भधारण एवं पोषण करने में निहित है। पतिता होने पर भी माता का गौरव कम नहीं होता, तब भी वह त्याज्य नहीं है। पतित गुरु तो त्याग दिये जाने योग्य है, परन्तु माता त्यागने योग्य नहीं है - *पतित गुरवस्त्याज्या न तु माता कांचन। गर्भधारण पोषाभ्यां तेन माता गरीयसी।।*[19] पुराणकालीन समाज में एक स्थान पर जननी की महत्ता को स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ माना गया है - *जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।* अर्थात् जननी (माता) और जन्मभूमि की महानता तो स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पुराणकालीन समाज की नारी ने अपनी गरिमा को सर्वत्र प्रतिष्ठापित किया। भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु आज भी हिन्दू समाज की आदर्श नारी पुराणकालीन नारी-संस्कृति का अनुगमन करती है। पुराणकालीन, समाज का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में मानव-जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास में नारी की अहम् भूमिका रही है, जिसने सही अर्थों में समाज का चतुर्दिक विकास किया है। बच्चों के कल्याण के लिए जितना त्याग नारी करती है शायद ही संसार में कोई किसी के लिए कर सकता है। नारी माँ की भूमिका में बच्चों को अपना जीवन रक्त देती है। यही कारण है कि भारत देश में नारी देवी सदृश मानी जाती है जिसका आदर-सम्मान तथा जिसकी पूजा अपेक्षित है। हमारे पालन-पोषण व कल्याण का पूर्ण उत्तरदायित्व नारी का ही माना जाता है। किसी सभ्यता की सच्ची परख वहाँ की नारी की स्थिति व उसके इतिहास से परिलक्षित होती है। किसी समाज में नारी की स्थिति उस समाज की सांस्कृतिक य बौद्धिक प्रगति को दर्शाती है। जिस समाज में नारी अपने पति के समकक्ष होती है वहाँ उसे अनुचित स्वतन्त्रता को छोड़कर शेष सभी अधिकार प्राप्त होते हैं तथा घर की गृहलक्ष्मी के रूप में उसका आदर होता है। जिस घर में नारी अपने पति की सहगामिनी व सहचरी बनकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, वह घर निश्चय ही सभ्य, सुसंस्कृत व समुन्नत होता है।

सन्दर्भ

1. मनुस्मृति - 3/56। **2.** वायुपुराण - 97/141। **3.** विष्णुपुराण - 5/23-11। **4.** शिवपुराण - 4/2/18। **5.** अष्टादश पुराण दर्पण, ज्वाला प्रसाद मिश्र, पृष्ठ संख्या-42। **6.** स्कन्दपुराण - 24/46। **7.** पद्मपुराण - 2/59/23। **8.** स्कन्दपुराण-काशीखण्ड - 4/67। **9.** स्कन्दपुराण - 4/85। **10.** ब्रह्माण्डपुराण - 4/4/15। **11.** मत्स्यपुराण - 2/10/16। **12.** विष्णुपुराण - 6/2/35। **13.** स्कन्दपुराण-24/52। **14.** कल्याण, नारी अंक, गीताप्रेस गोरखपुर। **15**. बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड - 2/3/47। **16.** बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड - 2/3/47। **17.** मत्स्यपुराण - 154/156। **18.** ब्रह्मवैवर्तपुराण - 30/109/110। **19.** मत्स्यपुराण - 227/150। **20.** स्कन्दपुराण - 3/45।

संविदा शिक्षक, संस्कृत विभाग
राजकीय महाविद्यालय,
मुवानी (जनपद-पिथौरागढ़) उत्तराखण्ड
मो. - 7533985307
ई मेल : joshineemanmuwani@gmail.com

श्रीकृष्ण के पश्चात यदुवंश का राज्य-विस्तार

वेणु गोपाल शर्मा

(1) भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण के प्रपौत्र का नाम वज्रनाभ ही है किन्तु मिसिल हाकेयत गाँव-वहज, तहसील-डीग में लिप्यन्तरण के कारण ब्रजभानपुर लिखने की त्रुटि है। यह गाँव वज्रनाभ ने ही बसाया था, जिसे बाद में वहज कहा जाने लगा। पूर्व में यह गाँव वज्रनाभपुर कहलाता था। इस प्रकार भागवत के आधार पर 'वज्रनाभ' नाम ही प्रामाणिक है।

(2) भागवत माहात्म्य के प्रथम अध्याय के श्लोक-3 के अनुसार युधिष्ठिर मथुरा मंडल में वज्रनाभ का और हस्तिनापुर में अपने पौत्र परीक्षित का राज्याभिषेक करके महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयों एवं महारानी द्रौपदी सहित स्वर्गारोहण के लिये हिमालय चले गये। अपने अंतिम समय में वज्र भी हिमालय चला गया।

(3) ओझा निबंध-संग्रह खंड-3 पृष्ठ 1-3 में उपलब्ध कवि यदुनाथ कृत वृत्रविलास में वज्रनाभ यदु की 46वीं पीढ़ी के शासक थे। वज्रनाभ के उत्तराधिकारियों का क्रमबद्ध विवरण उपलब्ध नहीं है।

(4) कामवन के चौरासी खम्भा अभिलेख में उत्कीर्ण वत्सदामा तथा उससे पूर्व के सातवें राजा फक्क का नाम किसी भी यदुवंशावली में नहीं होने से इनके समय का सही निर्धारण कठिन है।

(5) सिकन्दर के इतिहास लेखक एरियन के अनुसार ईसा के आठ सौ वर्ष पहले जमुना किनारे के यदुवंशी राजा शूरसेन के पुत्र वसुदेव के आत्मज कृष्ण के होने का तथ्य उतना ही प्रामाणिक है, जितना दूसरे देश का कोई ऐतिहासिक तथ्य प्रमाण सम्मत हो सकता है।

ऋग्वेद में मनु की पुत्री इला के पुत्र पुरुरवस का उल्लेख मिलता है। इसी के वंशवृक्ष में महाराजा यदु हुए। यदु के वंशधर यादव कहलाते हैं। महाभारत तथा भागवत के अनुसार यदुवंशियों का राज्य पहले प्रयाग में था। फिर महाराजा शूरसेन का राज्य मथुरा के आस-पास के क्षेत्र में रहा। श्री कृष्ण के दादा शूरसेन के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम शूरसेन पड़ा। भगवान श्रीकृष्ण के समय में शूरसेनी राज्य का विस्तार हुआ। मगध के राजा जरासंध से निरन्तर संघर्ष के कारण श्रीकृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारका बनाली। जरासंध के मारे जाने के बाद यादवों का राज्य मथुरा के आस-पास पुनः स्थापित हुआ। द्वारका के निकट प्रभास में यादवों के परस्पर कट-मरने तथा श्रीकृष्ण के स्वर्गवास के बाद अर्जुन उनके परिवार को द्वारका से इन्द्रप्रस्थ ले गया, उन्हीं में श्रीकृष्ण का प्रपौत्र बज्रनाभ था। बज्रनाभ ने

अपना राज्य स्थापित किया और मथुरा क्षेत्र में अपने नाम पर राजधानी बना कर उसका नाम बज्रनाभपुर रखा जिसे अब बहज कहा जाता है। श्रीकृष्ण के शेष वंशज पाण्डवों के महा-प्रस्थान के समय उनके साथ-साथ गये, किन्तु आगे न बढ़ सके और पंचनद (पंजाब) क्षेत्र के दुआबे में जाकर बस गये जिसे गिरिव्रज अथवा 'यदु की डांग' कहते हैं। इस गिरिदेश में कुछ समय रहने पर असुविधा हुई तो उस शैलमंडित भू-भाग को छोड़कर यादव सिन्धुनद के दूसरी पार जावालिस्थान (अफगानिस्तान) नामक देश में गये और वहाँ प्रसिद्ध गजनी नगरी की प्रतिष्ठा की तथा राज्य को समरकन्द तक विस्तारित किया। भट्ट ग्रंथ के अनुसार कालान्तर में यादवों ने फिर भारतवर्ष में अपना राज्य विस्तार किया। पुनः भारत भूमि में आने पर यादव पंजाब में बसे और शालिवाहनपुर (सियालकोट) नामक नगर बसाया। पहले इस मरुस्थल में लहंग, जोहिया और महिल जातियाँ वास करती थी। यादव लोगों ने उनको परास्त कर इस प्रदेश में अपना अधिकार कर लिया। समयानुसार फिर कई नगर बसाये। इस संदर्भ में यादवों की नौ राजधानियों से संबंधित यह ऐतिहासिक कथन प्रसिद्ध है--- *मथुरा काशी प्रागवड, गजनी अरु भटनेर। दिगम दिरावल लोद्रवो, नम्मो जैसलमेर।।*

शूरसेन प्रदेश के यादव

ऐतिहासिक संदर्भों के अनुसार ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व शूरसेन साम्राज्य चर्मोत्कर्ष पर था। कामा (कामवन) की 'चौरासी खम्भा' नाम की मस्जिद, जो हिन्दू मन्दिरों को गिराकर उनके पत्थरों से बनाई गई थी, उसके एक स्तम्भ पर शूरसेन वंशी यादव राजा वत्सदामा का खण्डित शिलालेख विद्यमान है, जिसकी लिपि झलरापाटन वाले राजा दुर्गगण के वि.सं. 746 (ईस्वी. 689) के शिलालेख की लिपि से मिलती हुई है। यदि कामा का लेख वि.सं. की आठवीं शताब्दी के अंत का भी माना जाये तो भी उसमें लिखे हुए वत्सदामा के पूर्व के सातवें राजा फक्क का समय, प्रत्येक राजा के राज्य समय को औसत बीस वर्ष मानने से वि.सं. 680 (ईस्वी 623) के आस-पास स्थिर होता है। शूरसेन जनपद में मथुरा से लगते मत्स्य-क्षेत्र अर्थात अलवर का क्षेत्र, भरतपुर, धौलपुर एवं करौली थे। महाभारत के कर्ण पर्व में मत्स्यों को सत्यवादन और शूरसेनों को यजन के लिए प्रसिद्ध कहा है - *सत्यम् मत्स्य शूरसेनश्च यजनम्।*

एक अपभ्रंश पांडुलिपि के अनुसार यह प्रदेश भण्डानक या भानया कहा जाता था जो अब बयाना कहा जाता है। ई.स. 639 के करीब जब चीनी यात्री हुएनसांग भारत भ्रमण करने आया तब मथुरा के इलाके पर शूरसेनी यादवों का राज्य था। ख्यातों से ज्ञात होता है कि शूरसेन वंश में सन् 879 ई. में इच्छपाल मथुरा का राजा था (मिसल हाकेयत गाँव बहज तहसील डीग, भरतपुर, 1954) जिसके ब्रह्मपाल तथा विनयपाल नाम के दो पुत्र हुए। इच्छपाल के बाद मथुरा का राजा ब्रह्मपाल हुआ। विनयपाल के वंशज वनाकर यादव कहलाये। ब्रह्मपाल के बाद वि.स. 1023 (ई.स. 966) में जयेन्द्रपाल गद्दी पर बैठा। जगा के सजरा में इसे सन्तपाल लिखा है। इसका देहान्त वि.सं. 1049 (ई. सन 992) कार्तिक सुदी 11 को हुआ। इसके ग्यारह पुत्रों में ज्येष्ठ महाराजा विजयपाल था, जिसने 53 वर्ष तक राज्य किया। 1018 ई. में महमूद गजनवी द्वारा मथुरा लूटे जाने पर विजयपाल अपनी राजधानी मथुरा से मानीपहाड़ी पर ले गया। इसी पहाड़ी पर इसने 1040 ई. में विजयमंदिरगढ़ नाम से एक विशाल किले का जीर्णोद्धार करवाया। करौली की ख्यातों के अनुसार विजयपाल का गजनी के मुसलमानों से युद्ध हुआ, जिसमें उसने उन्हें परास्त किया। विजयपाल के 18 पुत्रों में ज्येष्ठ तिमनपाल ने बयाना से 29 मील दूर तिमनगढ़ की तामीर कराई। इसके राज्य में वर्तमान अलवर का आधा हिस्सा, भरतपुर, धौलपुर, करौली, गुड़गांव व मथुरा से लेकर आगरा व ग्वालियर के कुछ भाग भी सम्मिलित थे।

तिमनपाल के वंशज कुंवरपाल का 1196 ई. में मोहम्मद गोरी से घमासान युद्ध हुआ। गोरी की विजय के बाद कुंवरपाल को बयाना व तिमनगढ़ छोड़ने पड़े थे और कामां की ओर जाना पड़ा। इसके वंशज अर्जुनपाल ने चौदहवीं शताब्दी में सरमथुरा के 24 गांवों को बसाया और इसने धीरे-धीरे अपने पूर्वजों के राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। वि.सं.1405 (ई.स. 1348) में इसने करौली नगर बसाया। तिमनपाल के एक वंशज धर्मपाल ने धौलपुर बसाया।

जैसलमेर के भाटी यादव

जैसलमेर की तवारीख में वहां के नरेशों के पूर्वज यादव अथवा यदुवंशी महाराजा गज को, विक्रम की छठी शताब्दी में गजनीपुर में होना माना है। जैसलमेर के यादव राजा अपना निकास गजनी से मानते हैं। इतिहास ग्रंथों के अनुसार मुसलमानों के दबाव के कारण वे पंजाब में सालपुर (सियालकोट) होते हुए सतलज पार करके रेगिस्तान में अपने वर्तमान स्थान जैसलमेर तक आ पहुंचे थे। यह यादवों की भाटी शाखा थी जिसका मूल पुरुष भट्टी वि.सं. 680 (ई.स. 623) में हुआ था। उसी ने वि.सं. 680 से भट्टिक सम्वत चलाया था। इस सम्वत के कई शिलालेख अब तक मिल चुके हैं। महाराजा गज द्वारा जावालिस्तान में बसाये गजनी शहर से दूर किये जाने पर यादव जब पुनः भारतवर्ष में लौटे तो उनमें बहुत से छोटे-छोटे गोत्र विख्यात थे। उन गोत्रों में भट्टी लोग विशेष पराक्रमी हुए। सन् 1155 ई. में महारावल जैसलदेव ने जैसलमेर नगरी बसायी। इस नगरी की प्रतिष्ठा करने से पहले भाटी यादवों ने किसी प्राचीन जाति से लोहदुवीपट्टन (लोद्रवा) नामक नगर को अधिकार में किया था एवं कुछ काल तक वहां रहे। महारावल जैसलदेव के बाद भाटी यादवों का शासन जैसलमेर राज्य में अन्त तक कायम रहा।

जामनगर के जाडेचा यादव

यदुवंश की यह प्रसिद्ध शाखा जाडेचा, भट्टी कुल के क्रम में ही स्थान पाये हुए है। इन दोनों शाखाओं के सम्बन्ध में लगभग एकसा ही वृत्तांत पाया जाता है। यदुकुल ध्वंस होने के बाद ठीक एक समय में ही इन दोनों शाखाओं के अगुवे शेष यादवों को साथ लेकर भारत के पश्चिमी प्रदेश की ओर चले गये थे, परन्तु जाडेचा शाखा भट्टी के समान अपने राजत्व को अधिक दूर में विस्तार नहीं कर सकी। सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर शिवस्थान नामक जनपद था। सिकन्दर के समय के इतिहास ग्रंथों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि वहां जाडेचा लोगों ने अखण्ड प्रताप से शासन किया। कहते हैं कि मसीडीनिया के वीरों ने जिस समय भारत पर चढ़ाई की थी तब जाडेचा कुल में उत्पन्न शाम्ब नामक राजा उनके विरुद्ध युद्ध करने के लिए सामने आया। महाराज शाम्ब का उद्भव श्रीकृष्ण से ही है। इनकी उत्पत्ति उनकी एक रानी जाम्बवती से हुई थी। महाराजा शाम्ब शाम्बनगर या शामनगर में राज्य करते थे परन्तु ग्रीक वाले इनको मीनगढ़ का राजा बताते हैं। जहाँ सिन्ध नदी का डेल्टा दो भागों में बंट जाता है, वहीं शाम्बनगर है। इसका उल्लेख सुम्मकोट के नाम से भी मिलता है। दूसरी शताब्दी में यह नगर एक इण्डोसीथिक राजा की राजधानी था।

जूनागढ़ के यादव

श्रीकृष्ण के मथुरा से द्वारका प्रस्थान के बाद यादवों का राज्य विस्तार गुजरात के सौराष्ट्र या काठियावाड़ में हुआ। भागवत के अनुसार कृष्ण के नेतृत्व में यादवों की प्रधान राजधानी कुशस्थली द्वारका बन गयी थी। इस नगर की प्रतिष्ठा प्रयाग एवं मथुरा से बहुत पहले हुई थी। सूर्यवंशी महाराजा इक्ष्वाकु के सबसे छोटे भ्राता आनर्त ने इस नगरी को बसाया था जिससे इस क्षेत्र को अनार्त भी कहा जाता था। द्वारका के द्वारकाधीश मन्दिर में कृष्ण-भक्तिकाल से पूर्व बुधत्रिविक्रम की पूजा होती थी। वर्तमान में इस देवालय के बाहरी कक्ष में कृष्ण की मूर्ति भी स्थापित है। यहां कृष्ण का पूजन रणछोड़ के रूप में होता है। यह वह रूप है जब मगध के राजा और कंस के श्वसुर

जरासंध ने कृष्ण को मथुरा से भगा दिया था। द्वारका के निकट वर्तमान जूनागढ़ के राव चन्द्रचूड़ यादव थे। जूनागढ़ के यादव श्रीकृष्ण की पत्नी रुक्मणि के वंशज हैं। रुक्मणि के पुत्र प्रद्युम्न के वंशजों में ही रुद्रपाल हुए। इसी क्रम में आगे माण्डलिक और खंगार हुए। खंगार देवड़ी रानी से विवाह करने के लिए अणहिलवाड़ा के राजा सिद्धराज का प्रतिस्पर्धी था, क्योंकि सिद्धराज जूनागढ़ प्रायद्वीप को भी अपने विजय किये हुए अठारह राज्यों में ही गिनती करता था। सम्भवतः खंगार की स्वतंत्रता उसकी शौर्याग्नि में बलिदान हो गयी। यादवों के चारणों की प्रचलित गाथा के अनुसार जूनागढ़-गिरनार की राज-वंशावली के अनुसार चार माण्डलिक, नौ नवधन, पांच सूरजमल और आठ रुद्रपाल नामक राजा हुए हैं। गिरनार के भवनों से प्राप्त जूनागढ़ शिलालेख में माण्डलिक, महीपाल, खंगार एवं जयसिंह यदुराजाओं की प्रशस्ति की गई है।

विजयनगर यादव राजवंश

प्राचीन शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों में दक्षिण में भी यादव राजाओं के राज्य होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। दक्षिण का सेउण प्रदेश जो नासिक से दौलताबाद तक का भू-भाग है, वह भी किसी समय यादवों के अधिकार में था। दक्षिण में द्वारसमुद्र, जो मैसूर राज्य के अन्तर्गत था, विजयनगर यादव राजवंश के अधीन था। इसका प्रभुत्व सिन्धु नदी के दक्षिणी भाग में तथा पंजाब में भी रहा । मैसूर के शासक पुलकेशिन द्वितीय ने सम्राट हर्ष को हराया और साम्राज्य का विस्तार किया। इसके पतन के बाद देवगिरि के यादवों एवं द्वारसमुद्र के होयसलों के बीच मैसूर-कर्नाटक का बंटवारा हो गया। चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हुई थी। इसी शताब्दी के अन्त में ही मैसूर का यादव राज्य विजयनगर यादव साम्राज्य के अधीन हुआ। 1565 ई. में विजयनगर साम्राज्य के पतन के बाद मैसूर स्वतंत्र यादव राज्य बन गया। इस राज्य के संस्थापक मूलपुरुष विजयराज एवं कृष्णराज नामक यादव थे, जिन्होंने द्वारका से जाकर 1399 ई. में दक्षिण में अपना यह राज्य स्थापित किया। वहाँ विजयराज को ओडियार या वढियार की सम्मान सूचक उपाधि मिली थी। मुगल बादशाह जहांगीर के शासन काल में सिदखेड के जादव (यादव) विठोजी का पुत्र लाखोजी जादोराय नाम से विख्यात था। बादशाह द्वारा उसे पांच हजार सवार की मनसब दी गई थी। लाखोजी का उत्तराधिकारी पौत्र पतंगराव भी शाहजहां द्वारा जादोराय की पदवी से सम्मानित किया गया था।

उत्तरपूर्वी राजपूताने के यादव

मुहम्मद गोरी के बयाना पर आक्रमण के बाद यहां के यादव राजपूतों की एक शाखा की स्थापना उत्तरी अलवर के उस भाग में हुई थी, जिसे मेवात का कोटपाया कहते हैं। ये राजपूत, मेवों और खानजादों के पूर्वज थे, जिन्हें कनिंघम के अनुसार फीरोज तुगलक के शासन तक मुसलमान नहीं बनाया गया था। इसीलिये पूरी 13वीं शताब्दी तक पूरा मेवात हिन्दू जादव राजपूतों के अधिकार में था। उत्तरी पूर्वी राजपूताने में यादवों ने कामां, तिजारा और सरहद्दा (उत्तरी अलवर) में अपना राज्य स्थापित किया था। इल्तुतमिश ने इस क्षेत्र को विजित कर अपने राज्य में शामिल किया। वर्तमान में इस क्षेत्र में रहने वाले हिन्दू एवं मुसलमान समान रीति-रिवाजों का व्यवहार करते हें, किन्तु मुस्लिम धर्म से कुछ अधिक प्रभावित हैं। सोलहवीं शताब्दी में इन्होंने सक्रिय होकर दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों को काफी परेशान किया था।

यदुवंश की कुल आठ शाखाओं का विस्तार वर्तमान में राजस्थान के अतिरिक्त मैसूर, त्रिपुरा, जामनगर, राजकोट, गोंडल, कच्छ, भोखी, धरोल एवं भारतवर्ष के अन्य भागों में भी है, किंतु धर्म परिवर्तन अथवा गोत्रों की भिन्नता के कारण सही जानकारी प्राप्त करना गहन शोध का विषय है।

ब्राह्मण धर्मशाला के पास
करौली (राज.)-322241

सारस्वत ब्राह्मण रावण वंशी हैं : एक भ्रामक अवधारणा

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा

समस्त भारत वर्ष में मूलतः दस प्रकार के ब्राह्मण हैं। विन्ध्याचल के दक्षिण में पाँच प्रकार के एवं विन्ध्याचल के उत्तर में पाँच प्रकार के। दक्षिण के ब्राह्मणों को पञ्च द्रविड़ और उत्तर के ब्राह्मणों को पञ्चगौड़ कहा जाता है -- *कर्णाटकाश्च तैलंगाः द्रविणाश्च तपोधनाः, महाराष्ट्राः गुर्जराश्च पञ्च द्रविड बन्धवः।। सारस्वताः कान्यकुब्जा गौडा उत्कल मैथिलाः। पञ्चगौडा इति ख्याता विन्ध्योत्तर वासिनः।।*[1] वर्तमान में उत्तर भारत में अन्य ब्राह्मण इन्हीं मूल पंच गौड़ ब्राह्मणों की शाखायें हैं। सारस्वतों का नाम पञ्चगौडों में सबसे पूर्व आता है। सरस्वती शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय करके सारस्वत शब्द निष्पन्न होता है-- सरस्वती+अण्। आदि अच् (स्वर) दीर्घ हुआ और अण् के अन्त्य व्यञ्जन ण् का लोप हुआ। सारस्वती+अ। अब पाणिनी व्याकरणानुसार सारस्वती के अन्तिम स्वर ई का लोप हुआ- सारस्वत्+अ। सन्धि होकर सारस्वत शब्द बन गया। यहाँ अपत्य अर्थात् सन्तान अर्थ में अण् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। सरस्वती के भक्त अथवा पुजारी के लिये सारस्वत शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता और ना ही सरस्वती नदी के किनारे बसने वाले ब्राह्मणों के लिये। उस समय नामकरण व्याकरण सम्मत ही किये जाते थे। इस प्रकार महर्षि पाणिनि के व्याकरणानुसार सारस्वतों की उत्पत्ति सरस्वती से होना सिद्ध होती है।

ब्रह्मा के दश मानस पुत्र थे- मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद।[2] भृगु ऋषि का कर्दम-देवहूति की पुत्री ख्याति से विवाह हुआ। उनसे धातार, विधातार दो पुत्र और श्री नाम की कन्या उत्पन्न हुयी। धातार से मृकण्ड और मृकण्ड से मार्कण्डेय उत्पन्न हुये। विधातार से प्राण और प्राण से वेदशिरा उत्पन्न हुये। भृगु के एक कवि नामक पुत्र भी थे और कवि से उशना अर्थात् शुक्राचार्य का जन्म हुआ।[3] श्री नाम की कन्या विष्णु पत्नी बनी। दीर्घ काल के अनन्तर भृगु ने अपना शरीर त्याग दिया और फिर वरुण की पत्नी चर्षणी के गर्भ से जन्म लिया। रत्नाकर इनके भाई थे, जो बाद में वाल्मीकि ऋषि के रूप में प्रसिद्ध हुये।[4] वरुण पुत्र भृगु की पत्नी पौलोमी के गर्भ से च्यवन[5] और आप्नुवान हुये। आप्नुवान के और्व हुये, जिन्हें श्रीमद्भागवत में ऋचीक कहा गया है। ऋचीक के जमदग्नि और जमदग्नि के वसुमान, राम (परशुराम) आदि कई पुत्र हुये।[6]

ब्रह्मा - पुत्र मरीचि ऋषि के कश्यप और कश्यप की पत्नी अदिति से विवस्वान का जन्म हुआ। विवस्वान की पत्नी संज्ञा से श्राद्धदेव उत्पन्न हुये, जो वैवस्वत मनु कहलाये। यही वर्तमान मन्वन्तर के अधिपति हैं। इनके इक्ष्वाकु, शर्याति आदि दश पुत्र हुये।[7] शर्याति की कन्या का नाम सुकन्या था, जो च्यवन ऋषि को ब्याही गयी।[8] महर्षि च्यवन के सुकन्या से दो पुत्र आत्मवन और दधीच उत्पन्न हुये- *जनयामास पुत्रौ द्वौ सुकन्यायाश्च भार्गवः। आत्मवानं दधीचञ्च तावभौ सम्मतौ।।*[9] यह दधीच का दूसरा जन्म था। पूर्व जन्म में ये अथर्वा ऋषि और देवहूति की पुत्री शान्ति के पुत्र थे। उस जन्म में इन्होंने इन्द्र को अपनी हड्डियाँ दान कर दी थी।[10] च्यवन - पुत्र दधीच की पत्नी सरस्वती के गर्भ से सारस्वत ऋषि की उत्पत्ति हुयी। *सारस्वतः सरस्वत्यां दधीचाच्चोपपद्येत।*[11] ये ही सारस्वत ऋषि सारस्वत ब्राह्मणों के प्रवर ऋषि हैं। इन्हीं के नाम से इस ब्राह्मण वर्ग को जाना जाता है।

सिन्धु देश में हिंगुल तीर्थ के समीप सिन्धु नदी के मुहाने पर दधीच ऋषि का आश्रम था।[12] यह स्थान अब पाकिस्तान में है। यहीं से सारस्वतों का विस्तार सिन्ध, पंजाब, कश्मीर और काँगड़ा घाटी में हुआ। पाकिस्तान बनने के बाद सिन्ध से इनका पलायन हो गया। आज भी भारत के उक्त स्थानों में ही बहुसंख्यक रूप में सारस्वत ब्राह्मण मिलते हैं। **संक्षिप्त वंश क्रम-**वरुण से रत्नाकर (वाल्मीकि) एवं भृगु (द्वितीय जन्म), भृगु से च्यवन और आप्नुवान, च्यवन से आत्मवान तथा दधीच-(द्वितीय जन्म), दधीच से सारस्वत। आप्नुवान से और्व (ऋचीक), और्व से जमदग्नि और उनके परशुराम आदि पुत्र। उक्त तथ्य के अतिरिक्त सारस्वतों के रावण वंशी न होने के सन्दर्भ में अनेक तथ्य हैं, जिनका उल्लेख यहाँ किया जाना अति आवश्यक है।

1. पुलस्त्य और भृगु दोनों ही समकालीन थे, परन्तु उन भृगु से सारस्वत वंश नहीं चला, जबकि रावण वंश उन्हीं पुलस्त्य ऋषि से चला। पुलस्त्य-विश्रवा-रावण आदि। एक लम्बे अन्तराल के बाद वरुण के यहाँ जिन भृगु का जन्म हुआ, उनसे सारस्वत वंश चला।

2. इस प्रकार रावण का जन्म सृष्टि के प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर के प्रथम महायुग में हुआ था। उस समय ब्राह्मणों का वर्गीकरण नहीं हुआ था। सारस्वत ऋषि का जन्म वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के प्रथम महायुग में हुआ था, जैसा कि पूर्व में दिये गये तथ्यों से प्रमाणित होता है। फलतः रावण से सारस्वत छह मन्वन्तर छोटे थे। एक चतुर्युगी का एक महायुग होता है और इकहत्तर महायुगों का एक मन्वन्तर होता है। समय की गणना करने पर यह समय लगभग दो अरब वर्षों का बैठता है,[13] तब रावण सारस्वत कहाँ से हो गया?

3. सारस्वतों में च्यवन, आप्नुवान, और्व आदि गोत्र तो मिलते हैं, परन्तु पुलस्त्य, विश्रवा, रावण, विभीषण आदि गोत्र नहीं मिलते।

4. जोधपुर के समीप मण्डौर में रावण का एक मन्दिर है, वहाँ के पुजारी के अनुसार रावण की पत्नी मण्डौर की थी। राम-रावण युद्ध के बाद रावण के कई वंशज लंका से भागकर मण्डौर में बस गये थे। आज भी दो सौ परिवार जोधपुर जिले में निवास करते हैं, जो श्राद्ध पक्ष में रावण का श्राद्ध, तर्पण आदि करते हैं,[14] परन्तु सारस्वतों में रावण का श्राद्ध आदि करने की परम्परा नहीं है।

5. रावण वध के अनन्तर रावण के कुछ वंशज शाक या शाकल द्वीप चले गये थे, जो वर्तमान का अफ्रीका सिद्ध होता है।[15] श्री कृष्ण के एक पुत्र साम्ब ने द्वारका के समीप सूर्य का एक विशाल मन्दिर बनवाया था। उसमें पूजा के निमित्त शाकल द्वीप से उक्त रावण वंशियों को बुलवाया गया।[16] ये शाकल द्वीपी ब्राह्मण हैं, जो अपने को रावण वंशी कहते हैं। मण्डौर स्थित रावण मन्दिर का पुजारी गुजरात के जामनगर, भुज और कच्छ में रावण वंशजों के होने

की बात कहता है।[17] फलतः द्वारका के सूर्य मन्दिर के पुजारियों की मण्डौर स्थित रावण मन्दिर के पूजारियों से साम्यता सिद्ध होती है।

6. दक्षिण के पञ्च द्रविडों में सारस्वतों का उल्लेख नहीं है और दक्षिण में सारस्वत नहीं मिलते हैं। यदि रावण वंशी होते तो वहाँ अवश्य मिलते।

7. कोई भी सारस्वत अपने को रावण वंशी नहीं कहता। पता नहीं क्यों, ब्राह्मणों के एक वर्ग द्वारा सारस्वतों को रावण वंशी राक्षस कहना प्रारम्भ कर दिया, जो कालान्तर में पक्की धारणा बन गयी। यह धारणा निहायत ही मनगढन्त, अप्रमाणित एवं मिथ्या प्रचार है।

सन्दर्भ

1. जाति भास्कर, पृ.सं. 44। **2.** मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलह क्रतुः। भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः।। श्रीमद्भागवत 3/12/22। **3.** श्रीमद्भागवत 4/1/43-45 । **4.** श्रीमद्भागवत 6/18/4,5। **5.** ज्वाला प्रसाद मिश्र, "जाति भास्कर" पृ.सं. 45। **6.** मत्स्य पुराण 195/15। **7.** श्रीमद्भागवत 9/1/10-22। **8.** श्रीमद्भागवत 9/3/2-9। **9.** वायु पुराण खण्ड 2, अध्याय 4। **10.** श्रीमद्भागवत 4/1/42। **11.** वायु पुराण 2/4, महाभारत-शल्पपर्वान्तर्गत गदा पर्व 51/5-15। **12.** स्कन्द पुराण - हिंगुल खण्ड- उत्तर संहिता। **13**. सूर्य सिद्धान्त, मध्यमाधिकार, 15-18। **14**. दैनिक जागरण, 22.11.2006। **15.** डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा, "श्रीमद्भागवत पुराण वर्णित ज्योतिष का सैद्धान्तिक दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन" प्रथम अध्याय-भुवन कोश, पृ.सं. 88। **16.** भविष्य पुराण, अध्याय 133। **17.** दैनिक जागरण 22.11.2006।

ग्राम- रूधऊ, पोस्ट- पचवान
तहसील एवं जिला-- फिरोजाबाद
पिन कोड- 283 203 (उ. प्र.)
मो.- 9012414881

अपने को परखें

आओ, हम इन प्रश्नों के उत्तरों की तलाश करें। अपने को परखें-- अपनी सही जानकारी लें।

'क्या तुम ऐसे राजनीतिज्ञ हो जो स्वतः कहता है-- 'मैं अपने फायदे के लिए अपने देश का इस्तेमाल करूँगा।' यदि ऐसा है तो तुम कुछ नहीं हो, मांस पर टूट पड़ने वाले गिद्ध हो।

अथवा तुम ऐसे देशभक्त हो जो अपने अन्तःकरण के कान में चुपके से कहता है--'मैं विश्वासी सेवक हूँ-- अपने देश का' अगर ऐसा हो तो तुम राही की प्यास बुझाने के लिए रेगिस्तान में नखलिस्तान (ओएसिस) हो।

'क्या तुम ऐसे पति हो, जो अपनी गलतियों को वैध (सही) मानता है, परंतु अपनी स्त्री की गलतियों को अवैध। अगर यह है तो तुम मृतप्राय हो, जर्जर व्यक्ति हो।

'क्या तुम ऐसे लेखक हो जो जन समूह में अपना मस्तक उठाए है, पर उसका मस्तिष्क चिथड़ों तथा व्यर्थ की चीजों से भरा है तुम सड़े जल वाले निष्प्रवाह गड्ढे हो। '

'क्या तुम ऐसे पत्रकार हो, जो बाजार में अपने सिद्धान्तों को बेचता है और जो प्रलाप, दुर्भाग्य व अपराध को निर्मित करता है। ऐसा है तो दुम दुर्गंधयुक्त लाशभक्षी हो।'

'क्या तुम इतिहास के रंचमंग पर खड़े ऐसे शिक्षक हो जो अतीत के गौरव से प्रभावित होकर मानव जाति को नया संदेश देता है, तदनुकूल कार्य करता है तो तुम अस्वस्थ मानवता के लिए पौष्टिक औषध हो और भग्नहृदय के लिए मरहम हो।'

'क्या तुम ऐसे विचारक हो जो जीर्ण-शीर्ण व गर्हित को छोड़कर उपयोगी व शुभ सुरक्षा करते हुए अपने हृदय की रक्षा करता है तो तुम प्यासे के लिये शीतल व स्वच्छ जल के समान हो।' -खलील जिब्रान

चतुरसेन के उपन्यासों में बुद्ध-कालीन व्यवसाय-कला

डा. रामस्नेहीलाल शर्मा 'यायावर'

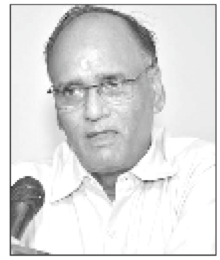

बौद्ध काल तक आते-आते आर्यों का कला कौशल एवं व्यवसाय के क्षेत्र में विकास बहु आयामी और बहुरूपी हो गया था। इस काल के आर्यों ने कृषि, पशुपालन एवं व्यापार आदि की दृष्टि से उन्नत अवस्था प्राप्त कर ली थी। आचार्य चतुरसेन ने अपने कथा साहित्य में इससे संबंधित विवरण दिए हैं।

(क) कृषि : आचार्य चतुरसेन के कथा-साहित्य में यह धारणा प्रकट की गयी है कि प्रागैतिहासिक युग के आर्य मात्र कृषक और पशुपालक थे।[1] कृषक हल बैल से खेत जोतते थे।[2] कृषि की अवस्था उच्च थी। अन्न में क्या-क्या उत्पन्न होता था इसका निश्चित संकेत तो प्रत्यक्ष रूप से आचार्य जी ने नहीं दिया है परंतु मधुगोलक से ईख, सूतीवस्त्रों से कपास तथा अंबपाली के आवास में हुई अन्न की लूट से अन्न के उत्पादन का अप्रत्यक्ष संकेत मिल जाता है। वैश्य कृषि और पशुपालन ही करते थे।

(ख) व्यापार : आचार्य जी के कथा-साहित्य के अनुसार बौद्ध काल में व्यापार अपनी पूरी उन्नति पर था। वैशाली का प्रधान बाजार 'श्रेष्ठि चत्वर' था। श्रेष्ठि चत्वर में 'जौहरियों' की बड़ी-बड़ी कोठियाँ थी, जिनकी व्यापारिक शाखायें समस्त उत्तर भारत में दक्षिणा पथ तक फैली हुई थीं। सुदूर पतित्थान से महिष्मती, उज्जैन, गोनर्द, विदिशा, कौशांबी और साकेत होकर पहाड़ की तराई के रास्ते से तव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पाना, हस्तिग्राम और भंडग्राम के मार्ग से बड़े-बड़े सार्थवाह वैशाली से व्यापार संबंध स्थापित किये हुए थे। पूर्व से पश्चिम का रास्ता नदियों द्वारा था, गंगा में सह्याद्रि और यमुना में कौशांबी पर्यन्त नावें चलती थीं। वैशाली से मिथिला के रास्ते गांधार को, राजगृह के रास्ते सौवीर को तथा भरुकच्छ के रास्ते बर्मा को और पतित्थान के रास्ते बैबिलोन तथा चीन तक भारी-भारी सार्थवाह जल और थल पर चलते रहते थे। ताम्रपर्णी, स्वर्णद्वीप, यवद्वीप आदि सुदूर पूर्व के द्वीपों का यातायात चंपा होकर था।[3] जल और थल मार्ग से होने वाला व्यापार चीन, बगदाद और फारस तक था। वैशाली के अतिरिक्त भारत का दूसरा प्रधान व्यापारिक केन्द्र श्रावस्ती नगर था। तीसरा केंद्र साकेत था। उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम के सार्थवाह जल थल दोनों ही मार्ग से साकेत होकर जाते थे।[4] चंपाद्वीप उस समय व्यापार का मुख्य केन्द्र था, जिस प्रकार चंपा सुदूर पूर्व के व्यापार का मुख था, उसी प्रकार रौरूक-सौवीर पश्चिम का व्यापार

मुख था। वहां यहूदी राजा सोलोमन के जहाज स्वर्ण भरकर आते थे और बदले में वस्त्र, मशाले, हाथीदाँत और अन्य पदार्थ ले जाते थे।[5] जौहरी पन्ना, लाल, मूंगा, हीरा, मोती, पुखराज तथा गंधी केशर और चंदन के तेल से बने इत्र और वस्त्र-व्यापारी मलमल शाल, कौशैय, पट्ट और अन्य वस्त्रों का व्यापार करते थे। उत्तम अश्व, हस्ति, युद्ध सामग्री, धान्य, रत्न, मणि, माणिक्य आदि वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था। व्यापारी सार्थवाह के रूप में चलते थे, उनकी अपनी सुरक्षा-व्यवस्था भी होती थी।[6] व्यापार में दूर-दूर तक हुंडी चलती थी। व्यापारियों की बड़ी-बड़ी और छोटी हट्ट हुआ करती थी। बड़ी-बड़ी हट्टों में जीवन सामग्री की सभी जिन्स बिक्री होती थी। हल्दी, मिरचा और लहसुन से लेकर अंतःपुर को सुरभित करने योग्य सुंदरी-दासियों तक का क्रय-विक्रय होता था।[7]पारस्यदेश के व्यापारी रत्न कंबर बेचते थे।[8] दूर-दूर देशों के व्यापारी विशेषकर यवन देश के दास विक्रेता भी होते थे। क्रीतदास या क्रीतादासी का पुत्र, युद्ध में विजित, ऋण में प्राप्त आदि पुरुष-स्त्री दास के रूप में बिकते थे। दासों की बिक्री ठीक उसी प्रकार होती थी जैसे अन्य वस्तु की। इनके शरीर का नाप जोख परख भी उसी प्रकार होती थी जैसे आज पशुओं की होती है।[9]

(ग) कला-कौशल : आचार्य चतुरसेन जी के कथा-साहित्य में समाज के बौद्धकालीन शैल्पिक विकास के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। संगीत और काव्य जैसी सूक्ष्म ललित कलाओं से लेकर वास्तु, जैसी मूर्ति जैसे स्थूल ललित कला उन्नत और उत्तम स्थिति में थी। यहाँ हम प्रत्येक कला की स्थिति पर संक्षेप में विचार करेंगे।

1. वास्तु कला : वैशाली नगर की गलियाँ संकरी और तंग थीं और उनमें गगनचुंबी अट्टालिकायें खड़ी थी, जिनके अंधेरे और विशाल तहखानों में धन कुबेरों की अतुल संपदा और स्वर्ण रत्न भरे पड़े रहते थे।[10] बड़े-बड़े भवन मत्स्य देश के उज्ज्वल श्वेत संगमर्मर के बनाये जाते थे। काली स्फटिक शिलाओं का प्रयोग फर्श बनाने में होता था।[11] बड़े-बड़े हर्म्यों और प्रासादों की दीवारों पर विविध रंगीन रत्नों की पच्चीकारी की जाती थी।[12] ऋतुओं के अनुसार अलग-अलग सुविधाओं के हर्म्य बड़े-बड़े धनिक और सेट्ठि बनवाते थे। हेमंत, वर्षा और ग्रीष्म के भवन अलग-अलग बनवाये जाते थे।[13] बड़े-बड़े हर्म्य और प्रासाद अनेक खंडों और प्रांगणों वाले हुआ करते थे। वैशाली में आम्रपाली को जो महल मिला था वह सप्तभूमि प्रासाद श्वेत संगमर्मर का बना था, उसमें सात खंड और सात ही प्रांगण थे, उसकी ऊँची अट्टालिका पर लगे स्वर्ण कंगूरे प्रभात की सुनहली धूप में चमकते हुये दूर तक बड़ी भारी शोभा विस्तार करते थे[14], जिस अलिन्द में अंबपाली का निवास था उसकी दीवारों और स्फटिक स्तंभों पर रत्न खचित किये गये थे तथा छत पर स्वर्ण का बारीक रंगीन काम किया गया था।[15] मनोरंजन व उपयोग के लिए लोग पुष्करणियाँ बनवाते थे। जिनमें से उपकुल्लिकायें निकाली जाती थी। पुष्करणियों में कुशलशिल्पियों से कृत्रिम पहाड़ियाँ और स्तंभ चिह्न भी बनवाये जाते थे।[16] राजा लोगों के दुर्ग बड़े प्रशस्त और लाल-पत्थर के बने होते थे। यहाँ तक कि असुर अनार्य राजाओं के दुर्ग भी ऐसे ही होते थे। कोण, बिहार, परिवेश, कोठियां, उपस्थान शालायें, अग्निशालायें, कालिक, कुटिया, बच्चकुटी, बच्चकूप, पेशाबखाने, चक्रमण स्थान, चक्रमण शालायें, प्याऊघर, जेताघर, जंतुशालायें, पुष्पकरणियां, मंडप आदि वास्तुकला की विभिन्न वस्तुएँ धार्मिक उद्देश्यों से बनवायी जाती थीं। बड़े-बड़े भवनों में अनेक[17] अलिन्द, कुट्टिम, वीथियां, कोष्ठक परिवेश, वातायन, सिसिका, चक्कालिका थे एवं अट्टालिकायें[18] होती थीं। हर्म्यों में अंतःप्रकोष्ठ थे[19], रक्षा के लिए बनाये गये दुर्ग बड़े विशाल होते थे और उनके चारों और खाइयां बनायी जाती थीं। पत्थर व ईंट के अतिरिक्त इन कोटों में पक्के मसाले

का प्रयोग प्लास्टर के लिए होता था।[20] उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ वर्ग के धनिक क्रमशः स्वर्ण, चांदी और ताँबे के कलश वाले भवन बनवाया करते थे।[21] राजकार्य के लिए जनपदों में मंत्रणागृह बनते थे, उनके चारों ओर अट्टालिकायें इस चतुराई से बनायी जाती थी कि उनकी दीवारों और निकास मार्गों का पता ही नहीं चलता था। मार्ग टेढ़े-मेढ़े और भूल भुलौवल बनाये जाते थे।[22] दुर्गों के सिंहद्वार विशाल पत्थरों के बनाये जाते थे। वास्तुशिल्प जिस उच्च कोटि का था और जैसे कि भवनों, हर्म्यों, प्रासादों और अनेक अंगों का वर्णन किया गया है उससे यह प्रमाणित होता है कि उस काल में भारत की वास्तु, अत्युन्नत और श्रेष्ठ थी। श्वेत संगमरमर, काला स्फटिक, लाल पत्थर, ईंट और मसाले का प्रयोग तत्कालीन वास्तु शिल्पी जानते और करते थे।

2. काष्ठ व धातु कला : काष्ठ और धातुओं से दैनिक उपयोग, विलास और युद्ध की अनेक सामग्रियाँ बनाने की कला भी बौद्धकाल में चरम विकास पर थी। बड़े-बड़े विशाल रथों के उपयोग राजवर्गी पुरुष और धनिकजन करते थे जिनके स्वर्ण कलश और स्वर्ण घंटिकायें, आकर्षक होती थी।[23] छंद शलाकाओं, टोकरियों, चौकियों, आसंदियों, पलंगों, चित्रकों, पटिकों, पतदग्रह, संगीत, तुरही, भेरी, भुरज, मृदंग आदि में काष्ठ व धातु पदार्थों का निर्माण व प्रयोग होता था।[24] चतुरशिल्पी ताम्रकार, लौहकार, रथकार, समाज में अपनी कलाओं का विस्तार करते हुए निवास करते थे। किलों के फाटक बड़े-बड़े और लकड़ी के बने होते थे।[25] महार्घशिविकायें बड़े-बड़े सेठ और सेठानी तथा धनिक जन प्रयोग में लाते थे।[26] अंतःकोष्ठों के कपाट लौहागलि युक्त होते थे।[27] दुर्गों की खाइयों और मुख्यद्वारों को जोड़ने वाले पुल भी काठ के ही बनाये जाते थे।[28]

काष्ठ व लौह से बनने वाली सामग्री दो प्रकार की होती थी एक तो वह जो शांति के क्षणों में विलास व सुविधा के लिए नागरिक जन प्रयोग में लाते थे, दूसरी वह जो युद्ध के काल में प्रयोग में आती थी। नावें, रथ बहुउद्देशीय थे। युद्ध के काम आने वाली नौकायें तीन प्रकार की होती थी एक दीर्घा, जिनकी लंबाई साठ हाथ और चालीस हाथ होती थी जो हाथियों अश्वों एवं रथों को भी स्थानान्तरित करती थी। दूसरी चपला जो शीघ्र चलने वाली हल्की परन्तु अच्छी सुदृढ़ थी, इनमें आठ नाविक और बीस धनु-खड्ग शूलधारी बैठ सकते थे। तीसरी मध्यमा जिसमें 26 नाविक और 50 भट बैठ सकते थे।[29] अस्त्रों-शस्त्रों में धनुष, बाण, खड्ग, प्रास, परशु, भिंदिपाल, तोमर, झष्ठी, बर्छी, शक्ति, चक्र आदि का प्रयोग होता था। इनको कुशल शिल्पी तैयार करते थे।[30] लौह शिल्पी हाथी, घोड़ों, मनुष्यों के लिए दृढ़ कवच भी तैयार करते थे।[31] दृढ़ काष्ठ फलकों को चर्मरज्जु से बांधकर और बीच में बाँस का बांध देकर नावें बनायी जाती थी और ऊपर चर्म मढ़ दिया जाता था।[32] लोहे के विशाल यंत्र युक्त हाथी इत्यादि का भी निर्माण करवा लिया जाता था।[33] कुशल शिल्पी अनेक लौह पदार्थ बना सकते थे, काष्ठ कला भी चरम विकास पर थी।

3. मूर्तिकला : आचार्य जी की धारणा है कि बौद्धकालीन अन्य विकसित शिल्पों के समान मूर्तिकला भी चरम विकसित अवस्था में थी। मूर्तियाँ पत्थर की बनायी जाती थीं जो कला की प्रतीक होती थी।[34] कुछ मूर्तियाँ बड़ी विशालकाय काले पत्थर की बनायी जाती थीं।[35] पत्थर के अतिरिक्त बाद के काल में मूर्तियाँ अष्ठ धातु की भी बनायी जाने लगी थी। महाराज हर्ष के राज्यकाल में मौखरी राज ने नालंदा में एक अप्रतिम बुद्ध प्रतिमा, निर्माण की थी जो शुद्ध अष्टधातु की बनी थी और उसकी ऊँचाई नब्बे हाथ थी। इसकी स्थापना छह मंजिल के श्वेत पत्थरों के भवन पर की गयी थी।[36]

4. चित्रकला : बौद्धकालीन समय चित्रकला की दृष्टि से भी विकसित और उन्नत था। चित्रकला के

क्षेत्र में प्रवीणता प्राप्त करने के इच्छुक कलाकार जंगल के एकांत में साधना करने जाया करते थे। प्राकृतिक पदार्थों एवं गतिशील मानवीय छवियों के चित्र समान रूप से कुशलता के साथ बनाये जाते थे।[37]

5. वस्त्र-निर्माण कला : आचार्य जी के कथा-साहित्य में प्रकट धारणा के अनुसार बौद्धकालीन समय में सूती, ऊनी व रेशमी तीनों प्रकार के अनेक रंगों के वस्त्रों का निर्माण कुशल कारीगरों द्वारा होता था। रेशम और बहुमूल्य महीन मलमल[38] श्वेत कोशेयऔर एथेन्स के मूल्यवान लागे पहने जाते थे[40]। स्त्रियाँ उत्तरीय, अंतरवासक, कंचुकी, कौशेय, श्वेत-ऊनी कंबल, दुकूल[41], ओढ़नी, घाघरा पहनती थी तथा पुरुष पाटंबर, शाल, उत्तरीय आदि धारण करते थे। रत्न-कंबल बनाये जाते थे। ऊन, रेशम, सूत इन तीनों प्रकार के वस्त्रों को बुनने, कातने और सिलने वाले कारीगर रहे होंगे यह निश्चित है। रत्न कंबल[42], तूलिका, विकतिक, उद्दलोमी, एकांतलोमी, करिस्स, कौशेय[43] आदि बड़े-बड़े वस्त्र तत्कालीन वस्त्र निर्माण कला की श्रेष्ठता के परिचायक हैं। बहुमूल्य स्वर्णतार जटित कौजर्व और उत्तम कौशेय[44] धनिक जन प्रयोग में लाते थे। कुल मिलाकर आचार्य जी की धारणानुसार यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-काल की वस्त्र निर्माण कला अत्युच्च, अद्‌भुत और महनीय थी।

6. चर्म कला : चर्म से विविध वस्तुएँ बनाने व उनको उपयोग में लाने की प्रथा थी। असुर तरुण खाल लपेटते थे।[45] असुर रमणियाँ चर्म के लहंगे पहनती थी।[46] धनि जन समूरी मृग की खालों की कीमती मृगछालाओं के बिछौने बिछाते थे[47], चर्म के दृढ़ फीते वाले व सुंदर-सुंदर जूते बनाये जाते थे जिन्हें उच्च-निम्न सभी वर्गों के व्यक्ति धारण करते थे[48], रथ और नावें चर्म से मढ़े जाते थे ताकि वे अधिक मजबूत बन सकें[49] तथा भेड़, बिल्ली और मूषक के रोम से सुवर्ण चित्रि[50] नामक मूल्यवान वस्त्र बनाये जाते थे।

7. आभूषण निर्माण : आचार्य जी के कथा-साहित्य में जिस प्रकार के स्वर्णाभरणों एवं रत्न जटित आभूषणों का प्रयोग वर्णन आया है उससे यह निश्चित होता है कि बौद्धकाल में आभूषण-निर्माण की कला चरम विकसित अवस्था में थी। आभूषण शुद्ध स्वर्ण के और रत्न-जड़ित दोनों प्रकार के बनाये जाते थे। वैशाली के श्रेष्ठिचत्वर में जौहरी पन्ना, लाल, मूंगा, मोती, पुखराज, हीरा और अन्य रत्नों को शान पर चढ़ाते, स्वर्णाभरणों को रत्नों से जड़ते और रेशम की डोरी में गूंथते थे।[51] राजवर्गी पुरुष, सेट्ठि और धनिक जन स्वर्षाभरण एवं रत्नाभरण पहनते थे।[52] स्त्रियाँ हीरे जड़ी स्वर्ण करधनी कमर में, पैंजनी पैरों में, सिंहल के मोतियों व मूंगों तथा हार की माला ग्रीवा में, नूपुर चरणों में, हीरक कुंडल कान में, स्वर्ण के मोटे-मोटे कड़े हाथ में पहनती थी।[53] पुरुष कानों में हीरक कुंडल, कमर में करधनी पहनते थे। असुर भुजबंद में स्वर्णमंडित सुआर के पात और माथे पर स्वर्णमंडित सींग बांधते थे।[54] ये सारे आभूषण प्रयोग में आते थे अतः इन्हें बनाने वाले कुशल शिल्पी इन्हें गढ़ते, बनाते और संवारते रहते थे। पुरुष और स्त्रियाँ समान रूप से रत्नाभरणों और स्वर्णाभरणों को पहनते थे इसलिए शिल्पियों को अपनी कला के विस्तार का पर्याप्त अवकाश रहता था। स्वर्णशिल्पी अधिकांशतः नगरों में ही रहते थे।

8. विविध कलायें : आचार्य जी ने अपने कथा-साहित्य में बौद्धकालीन शिल्पक चित्रण करते हुए यह प्रमाणित किया है कि इन विभिन्न कलाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक विलाससामग्री को उत्पादित करने वाली कलायें भी समाज में उपलब्ध थीं। इन विविध कलाओं में इत्र और सुगंधित पदार्थों के निर्माण की कला[55] तथा संगीत को स्थान दिया जा सकता है। संगीत कला अपने चरम विकास पर थी। वाद्य संगीत में तंतुवाद्य व अन्य प्रकार के वाद्य थे।[56] शंख, मुरजखमेरी, काहल, मंजीर, मृदंग आदि वाद्यों

का स्पष्ट वर्णन किया है।[57] गायन प्रचलित था। चर्चरी ताल से नर्तकियाँ परिचित थी।[58] अन्य राग भी अभिज्ञात थे। नृत्य के सामान्य ज्ञान से लेकर अपार्थिव नृत्य तक का ज्ञान और प्रयोग इस काल में होता था।

(घ) ज्ञान-विज्ञान : वैशाली की नगरवधू में आचार्य चतुरसेन ने कुछ अमोघ और अलौकिक विद्याओं तथा ज्ञान का चित्रण इस प्रकार किया है कि कहीं-कहीं तो ये वर्णन अस्वाभाविक और अविश्वसनीय लगने लगते हैं। ये दिव्य ज्ञान रचनात्मक और विध्वंसात्मक दो वर्गों में बांटे जा सकते हैं। रचनात्मक ज्ञान और विद्याओं में निम्नलिखित हैं---

1. ज्योतिष विद्या : इस विद्या में भविष्य कथन व गणना की जाती थी।[59]

2. अमोघ रसायन विद्या : तक्षशिला के तरुण वैद्य, राजकुमार विदूडभ के मित्र जीवक और कौमर भृत्य को वाजीकरण विद्या आती थी जो मूलरूप से पुरुष की उत्तेजक शक्ति को बढ़ाने वाली थी[60] अमोघ रसायन विद्या की एकमात्रा समूचे पर्वत्र को स्वर्ण बना सकती थी[61] अथवा वह गलित वृद्ध शरीर को वज्र के समान दृढ़ बना सकती थी।[62]

3. दिव्यौषधि : दिव्योषधियों के भक्षण से व्यक्ति अक्षय यौवन पा सकता था।[63]

4. लोपांजन और खेचरविद्या : लोपांजन और खेचरविद्या का ज्ञाता अदृश्य होकर आकाश मार्ग से अभीष्ट स्थान पर जा सकता था। महाराज उदयन को यह विद्या आती थी।[64]

5. तीन ग्राम में वीणा वादन एवं अपार्थिव नृत्य : धीरललित नायक महाराज उदयन मंजुघोषा दिव्य वीणा को तीन ग्राम में एक साथ बजा सकते थे। सोमप्रभ भी तीन ग्राम में वीणा एक साथ बजा सकते थे। जब भी तीन ग्राम में कोई वीणा बजाता था, अंबपाली अपार्थिव नृत्य करती थी। इस नृत्य की संसार में कोई समता नहीं थी।[65]

6. रसायन शास्त्र का ज्ञान : रसायन शास्त्र का अद्भुत और अलौकित ज्ञान उस काल के आचार्यों को था और वे इस ज्ञान को अपने शिष्यों को मुक्त कंठ से वितरित किया करते थे।[66]

ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र की प्रगति को रचनात्मक या विध्वंसात्मक, जैसा भी उपयोग मनुष्य करना चाहे कर सकता था। एक ओर जहाँ ज्ञान-विज्ञान के रचनात्मक प्रयोग के क्षेत्र में मानव ने पर्याप्त उन्नति की थी उसी प्रकार विध्वंसात्मक प्रयोग के क्षेत्र में भी मानव ने पर्याप्त उन्नति की थी। युद्ध में प्रयोग होने वाले रथ मुशल[67] और महाशिलाकंटक दिव्यास्त्र[68] व महाभयानक विष और संपूर्ण जनपद को पागल, रोगी, असहाय और अंधमूक, बधिर बनाने की क्षमता वाली औषधियाँ एवं विष[69] तथा विष कन्यायें थीं।[70]

संदर्भ

1. वैशाली की नगर वधू, पृ. 304। **2.** वही, पृ. 605। **3.** वैशाली की नगर वधू (पूर्वार्द्ध) पृ. 3-4। **4.** वही, पृ. 261। **5.** वही, पृ. 287। **6.** धरती और आसमान (कहानी संकलन) अंबरपालिका, पृ. 40। **7.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 487, 493, 491। **8.** बाहर भीतर (कहानी संकलन) आचार्य उपगुप्त। **9.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 504। **10.** वही, पृ. 295। **11.** वैशाली की नगर बधू (पू.), पृ. 24। **12.** वही, पृ. 12, 26, 493। **13.** वही, पृ. 26। **14.** वही, पृ. 49। **15.** वही, पृ. 57। **16.** वही, पृ. 58। **17.** वही, पृ. 103। **18.** वही, पृ. 271। **19.** वैशाली की नगर वधू (पू.) 282। **20.** वही, पृ. 353। **21.** वही, पृ. 354। **22.** वही, पृ. 364। **23.** वही, (उ.) पृ. 401। **24.** वही, पृ. 505। **25.** वही, पृ. 527। **26.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 14, 367। **27.** वही, पृ. 13, 59, 171, 353। **28.** वही, पृ. 171। **29.** वही, पृ. 295, 365। **30.** वही, पृ. 351। **31.** वही, पृ. 401। **32.** वही, पृ. 619, 648, 647। **33.** बाहर-भीतर (कहानी सं. भिक्षुराज) पृ. 67। **34.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 604, 639, 642। **35.** बाहर-भीतर भिक्षुराज, पृ. 67। **36.** कहानी खत्म हो गयी (कहानी संकलन) वासवदत्ता, पृ. 151। **37.** वैशाली की

नगर वधू , पृ. 103। **38**. वही, पृ. 335। **39.** बाहर-भीतर (कहानी संकलन-प्रतिदान), पृ. 67। **40.** वैशाली की नगर वधू, (उ.) पृ. 450, 466। **41.** वही, पृ. 3। **42.** वही, पृ. 14। **43.** वही, पृ. 113। **44.** वही, पृ. 113, 131, 652। **45.** वही, पृ. 294, 597। **46.** वही, पृ. 59। **47.** वही, पृ. 596, 701 । **48.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 171। **49.** वही, पृ. 170। **50.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 59, 344। **51.** वही, पृ. 419, 438, 625। **52.** वही, पृ. 343 तथा बाहर भीतर (भीक्षुराज) पृ. 67। **53.** वही, पृ. 343। **54.** वही, पृ. 3। **55.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 4। **56.** वही, पृ. 18, 50, 113, 166, 170, 437, 502। **57.** वही, पृ. 172। **58.** वही, पृ. 3। **59.** वही, पृ. 4, 5, 9, 180, 352, 354। **60.** वही, पृ. 354, 654। **61.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 241। **62.** वही, पृ. 147, 155। **63.** वही, पृ. 148,147। **64.** वही, पृ. 110। **65.** वैशाली की नगर वधू, पृ. 104। **66.** वही, पृ. 106,107। **67.** वही, पृ. 549-553 तक। **68.** वही, पृ. 660, 661 । **69.** वही, पृ. 79, 80, 530। **70.** वही, पृ. 186, 187, 498।

86 तिलक नगर, बाइपास रोड
फिरोजाबाद-283203
मो. 9917796897

●

प्रतिस्वर

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध-द्वैमासिकी का मई-जून 23 का नव्यतम अंक यथासमय संप्राप्त ! एतदर्थ साभार धन्यवाद ! कहना न होगा कि पिछले तमाम अंकों की भांति प्रस्तुत अंक भी भारतीय संस्कृति एवं साहित्य विषयक महत्वपूर्ण शोध एवं गवेषणात्मक सामग्री के मद्देनजर बड़ा ही मूल्यवान है, संग्रहणीय है। 'अध्यक्षीय' के अंतर्गत श्री जीवन राव के आलेख के माध्यम से विश्वामित्र नामक भूले-बिसरे तारे का बड़ा ही रोचक, कौतूहल प्रेरक एवं महत्वपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तदर्थ श्री राव अभिनंदन के पात्र हैं। बंधुवर डॉ. शर्माजी का संपादकीय निश्चय ही बहुआयामी है और सर्वथा रोचक भी। अंकस्थ अन्य आलेखों में सर्वश्री डॉ. सत्यव्रत वर्मा, गोपीनाथ पारीक, अभिजीतसिंह, डॉ. सुनीता सियाल एवं डॉ. किशोरीलाल व्यास के आलेख एवं उनमें अंतर्निहित सीमाक्षादृष्टि एवं शोधदृष्टि ने मुझे काफी प्रभावित किया है। 'वैचारिकी' में 'पाठक-मंच' शीर्षक स्थायी स्तंभ का अपने आप में सविशेष महत्व है। इस स्तंभ के अंतर्गत भी अत्यंत ज्ञानवर्द्धक सामग्री प्रकाशित की जाती है। प्रस्तुत अंक में डॉ. हरिकृष्ण प्रसाद गुप्त ने पर्याप्त उद्धरणों के प्रकाश में भोजपुरी नाटक के पुरोधा एवं कवि भिखारी ठाकुर का हृदयस्पर्शी साहित्यिक परिचय दिया है। बन्धुवर सीताराम पाण्डेय ने आचार्य शुक्ल विषयक कोई नवीन स्थापना तो प्रस्तुत नहीं की तथापि उनका आलेख 'आचार्य शुक्ल का गद्य-लेखन' संतोषप्रद है। शुभमस्तु ! !

प्रो. भगवानदास जैन
बी-105, मंगलतीर्थ पार्क, कैनाल के पास,
जशोदानगर रोड, मणीनगर (पूर्व), अहमदाबाद - 382445

सोलह संस्कार : परम्परा और विमर्श

श्रीमती डिम्पल जैसवाल

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्याः व्यैलवाः। युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां नदति दुनुभिः।। सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्। असपत्नं मां पृथिवी कष्णोतु।। अथर्ववेद का प्रस्तुत मंत्र भारतीय संस्कृति के उदात महत्व का परिचायक है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वप्राचीन एवं सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है। अपने उदात्त मूल्यों यथा-विश्वबन्धुत्व की भावना, निष्काम कर्म की प्रेरणा, सर्वधर्मसमभाव की मान्यता, वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन, त्याग तपस्या एवं तपोवन की साधना यज्ञ एवं दान की महिमा, सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि श्रेष्ठ गुणों की अवधारणा, आध्यात्मिक चेतना, परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्रधानता, षोडश संस्कारों की जीवनोपयोगिता, आदि श्रेष्ठ जीवन मूल्यों के कारण भारतीय संस्कृति, विश्वपटल पर अपनी अमिट पहचान रखती है। भारतीय संस्कृति का मूल रूप हमें सर्वप्रथम विश्ववाङ्मय के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में प्राप्त होता है। वेद भारतीय धर्म एवं दर्शन के मूलस्रोत एवं परम प्रामाण्य के रूप में समादृत है। 'सर्वज्ञानमयो' ही सः, मनुस्मृति का प्रस्तुत श्लोकांश वेदों के अथाह ज्ञान भंडार का परिचायक है। वेदों में भारतीय संस्कृति के विविध तत्वों का सम्यक प्रतिपादन हुआ है। इन तत्वों में सोलह संस्कारों का अन्यतम स्थान है। वेदों के अतिरिक्त पुराणों, स्मृति ग्रथों एवं गृह्यसूत्रों में भी संस्कारों का सम्यक निरूपण मिलता है।

सम् उपसर्गपूर्वक डुकृञ करणे धातु के घञ् प्रत्यय पूर्वक संस्कार शब्द की व्युत्पति होती है, जिसका अर्थ है-- शुद्धता या परिष्कार। जीवन संस्कार से ही परिशुद्ध होता है। जन्म से प्रत्येक मनुष्य असंस्कृत होता है, किन्तु वह संस्कार से ही द्विज कहलाता है। *जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्यते।* अर्थात जीव के सभी श्रेष्ठ गुण जो मनुष्य को उन्नत जीवन जीने की राह दिखाते हैं, संस्कार कहलाते हैं। वस्तुतः परिष्कृत एवं सुसंस्कृत मानवीय व्यवहार ही संस्कार की श्रेणी में आते हैं। श्रेष्ठ संस्कार ही संस्कृति को धारण करते हैं। श्रेष्ठ संस्कारों से युक्त होकर मानव अपने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वैयक्तिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नयन करता हुआ, आध्यात्मिक प्रशस्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है। हमारे धर्मशास्त्रकारों द्वारा संस्कार शब्द की कतिपय परिभाषाएँ प्रस्तुत की है, जो कि इस प्रकार हैं-- *संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। संस्कारो हि नाम गुणाधनेन वा स्याद्दोषापनयेन वा।*[1] *योग्यतां चादधानाः क्रिया संस्कारा इत्युच्यन्ते।*[2] परिभाषाओं के अध्ययनोपरान्त ज्ञात होता है कि संस्कार वह

कृत्य है, जो कि मनुष्य को सुसंस्कृत बनाता है। उसके जीवन को सार्थकता प्रदान करता है, दोषों का प्रक्षालन करता है तथा आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। जिस प्रकार स्वर्णकार सोने को आग में तपाकर, उसका संस्कार कर आभूषण तैयार करता है, उसी प्रकार माता-पिता और गुरुजन श्रेष्ठ संस्कारों द्वारा व्यक्ति का परिष्कार कर उसे समाज एवं राष्ट्र का श्रेष्ठ नागरिक बनाने का कार्य करते हैं।

संस्कारों की संख्या व मान्य संस्कार- संस्कारों की परम्परा यद्यपि वैदिक काल से अनवरत चली आ रही, तथापि संस्कारों के विषय में स्मृतिकारों में मतैक्य नहीं है। विविध विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार संस्कारों की संख्या व उनके नाम का परिगणन किया है। आचार्य गौतम ने गौतमधर्मसूत्र में अड़तालीस प्रकार के संस्कारों का वर्णन किया है। इन संस्कारों से संस्कृत पुरुष लौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्धि की प्राप्ति करता है। परवर्ती स्मृतिकार आचार्य हारीत ने यज्ञ का समावेश देव संस्कारों में किया है, तथा जीवन के विभिन्न अवसरों पर किये जाने वाले संस्कारों का समावेश ब्राह्म संस्कारों में किया है। यद्यपि केवल ब्राह्मसंस्कार ही यथार्थ संस्कार होते हैं तथापि यज्ञ, दान, तप के द्वारा भी पवित्रीकरण होता है। जैसा की गीता में कहा गया है-- *यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।*[3]

महर्षि मनु के अनुसार गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त त्रयोदश स्मार्तसंस्कार होते हैं-- *निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैःयस्योदितो विधिः। तस्म शास्त्रेधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्।।*[4] याज्ञवल्क्य स्मृति में कथित दैहिक संस्कारों के साथ पाकयज्ञ की भी गिनती संस्कारों में की गई है। परवर्ती स्मृतिकारों ने षोडश संस्कारों को ही माना है। व्यास स्मृति के अनुसार ये षोडश संस्कार इस प्रकार हैं -- *गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रिया निष्क्रमोन्नप्रासनं वपनक्रिया।। कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः। केशान्त स्नानमुवाहो विवाहाग्निपरिग्रहः।। त्रेताग्निसङग्रहश्चेति संस्कराः षोडश स्मृताः।*[5] अर्थात गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारंभ, केशांत, समावर्तन, विवाह, अग्न्याधान, अंत्येष्टि इस प्रकार षोडश संस्कार कहे गये हैं। इन षोडश संस्कारों का वर्णन अनेक ग्रंथों में मिलता है।

1. गर्भाधान संस्कार : जिस संस्कार के द्वारा गर्भ का आधान किया जाता है, उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। *गर्भ आधीयते ये न कर्मणा तत् गर्भाधानम् इत्युक्तवन्तं कर्मनामधेयम्।*[6] रति कर्म सोद्देश्य तथा सुसंस्कृत होवे, इस हेतु से यह संस्कार किया जाता है। ज्ञानवल्क्य स्मृति के अनुसार ऋतुस्नान से चौथी से सोहलवीं रात्रि पर्यन्त का समय इस हेतु उचित माना गया है। *षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्यैव पर्वाण्याद्याश्चतस्त्रस्तु वर्जयेत्।।*[7] स्त्री के रजोदर्शन होने से 16 रात्रि के समय को ऋतुकाल कहा जाता है। रजोदर्शन से चौथे दिन पत्नी के ऋतु स्नान कर लेने पर सोलहवीं रात्रि पर्यंत का समय गर्भाधान हेतु रतिक्रिया के लिए उचित माना गया है। रजोदर्शन से चार रात्रियों के बाद पुत्र की कामना के लिए युग्म (अर्थात् सम संख्यक छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं, सोलहवीं) रात्रियों में समागम कर प्रस्तुत संस्कार करने का विधान है। विषम संख्यक (5,7,9,11,13,15) रात्रियों में गर्भाधान से पुत्री होती है। 11वीं और 12वीं रात्रि तथा अमावस्या, पूर्णिमा व पर्वादि पर समागम निषिद्ध माना गया है। रात्रि का समय ही इस संस्कार हेतु उचित माना गया है, क्योंकि दिन के समय सहवास करने वाले पुरुषों का प्राण वायु वेग से चलता है। जो हानिकार है, अतः दिन में गर्भाधान से भाग्यहीन, शक्तिहीन तथा अल्पायुषी संतान उत्पन्न होती है। जैसा कि प्रशनोपनिषद् में कहा गया है- *प्राणा वा एते स्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।।*

(प्रश्नोपनिषद्-1/13)। महर्षि मनु के अनुसार-- *युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोयुग्मासु रात्रिषु। तस्मादयुग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्।।*[8] अग्नि पुराण में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं यथा-- *व्रजेद् युग्मासुपुत्रार्थीकर्माधानिकमिष्यते। अग्निपुराण-153/2*। अर्थात पुत्र की चाहना रखने वाले पुरुष को युग्म संख्या वाली रात्रियों में समागम करना चाहिए।

2. पुंसवन संस्कार : गर्भाधान के निश्चय के पश्चात् किया जाने वाला कर्म अथवा संस्कार 'पुंसवन' कहलात है। *गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरः।*[9] अग्निपुराण में भी कहा गया है- *गर्भस्य स्पष्टताज्ञाने सवनं स्पन्दनात्पुरा। अग्निपुराण 153/3 (उत्तरार्द्ध)*। आपस्तम्बगृह्यसूत्र के अनुसार, *पुंसुवनं व्यक्ते गर्भे तिष्येण।।*[10] अर्थात गर्भ धारण के लक्षण प्रकट होने के पश्चात पुंसवन संस्कार करना चाहिए।

पुत्रप्रसविका माता सम्मान के योग्य मानी जाती थी, क्योंकि युद्ध के अवसर पर पुत्रों की आवश्यकता होती थी। अतएव अगर पुत्री का जन्म होता तो उससे भी भविष्य में पुत्र प्रदान करने की आशा की जाती थी। अतएव पुत्रप्राप्ति के निमित्त यह संस्कार किया जाता था। *पुंसवनं नाम गर्भस्थ शिशोः पुरुषत्वप्रदानम्। पुमान प्रसूयते येन कर्मणा- तत्पुंसवनमीतिरम्।।*[11] यह संस्कार उस समय किया जाता है जब चन्द्रमा किसी पुरुष नक्षत्र में होता है। यह समय पुरुष संतति के जन्म में सहायक होता है। इस संस्कार में गर्भिणी स्त्री के दाएँ नाक के छिद्र में वटवृक्ष की जटा का रस गर्भपात को रोकने तथा पुत्र की प्राप्ति के लिए डाला जाता था। सुश्रुत के अनुसार वटवृक्ष में गर्भकाल के समस्त कष्टों के निवारण का गुण होता है। पुत्र प्राप्ति के लिए सुलक्ष्मणा, वटशुङ्गम्, सहदेवी, विश्वदेवी से युक्त औषधि दूध में मिलाकर उस रस की तीन बूंदें गर्भिणी स्त्री की नाक के दाईं छिद्र में डालनी चाहिए। *लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहः सुलक्ष्मणा वटशुङ्.ग- सहदेवी- विश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेणा- भिघुट्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्यादक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्। (हिन्दू संस्कारः, पृ.77)*। आपस्तंबगृह्यसूत्र के अनुसार, *न्यग्रोधस्य या प्राच्युदीची वा शाखा ततस्सवृषणां शुङ्गामाहृत्य सीमन्त- वदग्नेरुपसमादानादि।।*[12] अर्थात् इस संस्कार के अवसर पर वट वृक्ष की शाखा के अग्रभाग को निचोड़कर गर्भिणी के नासिका के दाहिने छिद्र में डाला जाता था। ब्राह्मणों को भोजन व हवन कार्य कराया जाता था।

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार : सीमन्त उन्नीयते यस्मिन्कर्माणि तत् सीमन्तोन्नयनमित कर्मनाम- धेयम्।[13] इस संस्कार के अन्तर्गत गर्भिणी स्त्री के केशों का उन्नयन किया जाता था। अर्थात् उसके केशों को संवारा जाता था। आपस्तंब ग्रह्यसूत्र के अनुसार, प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि।[14] अर्थात् गर्भावस्था के प्रथम समय से चतुर्मास में यह संस्कार किया जाना चाहिए। यह संस्कार गर्भिणी स्त्री को अमंगलकारी शक्तियों से रक्षा करने से उद्देश्य से किया जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार छठे या आठवें मास में यह संस्कार करना चाहिए।

आपस्तंबगृहयसूत्र के अनुसार इस संस्कार की विधि इस प्रकार है-- *ब्राह्मणान्भोजयित्वाशिषो वाचयित्वा-ग्नेरुपसमाऽधानाद्याज्यभागान्तेन्वा- रब्धायामुत्तरा आहुतीर्हुत्वा जयादिप्रतिपद्यते।। (आ.गृ., षष्ठ पटल,चतुर्दश खण्ड)। परिषेचनान्तं कृत्वाऽपरेणाग्निं प्राचीमुप-वेश्य त्रेण्या शलल्या त्रिभर्दर्भ- पुञ्जीलैशलालुग्लप्सेनेत्यूर्ध्वं सीम- न्तमुन्नयति व्याहतीभिरुत्तराम्यां च।। (आ.गृ., षष्ठ पटल, चतुर्दश खण्ड)*। अर्थात इस अवसर पर पति ब्राह्मणों को भोजन कराकर आशीर्वाद प्राप्त करके, यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर, पत्नी को अग्नि के पश्चिम में पूर्व की ओर मुख कराकर मंत्रोच्चारण से हवन कार्य करता था। तत्पश्चात् जलाभिषेक के बाद दूर्वा आदि

मंगलकारी वस्तुओं से पत्नी के केशों को संवारता था। इस दौरान वीणावादन, वैदिक मंत्रों का गान करते थे। इस प्रकार यह संस्कार परिवार में सुख शांति, गर्भिणी पत्नी के मन की प्रसन्नता तथा शिशु की मंगल कामना से किया जाता था।

4. जातकर्म संस्कार : संतान के जन्म लेने पर जो कर्म किये जाते हैं, वे जातकर्म संस्कार कहलाते हैं। इनके करने से जातक के गर्भावासजनित समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। मनुस्मृति के अनुसार- *प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।।*[15] अर्थात् नाभि-वर्धन से पूर्व जातकर्म संस्कार करना चाहिए। इसके अन्तर्गत मन्त्रोच्चारण पूर्वक हिरण्यमय मधु का प्राशन जातक को कराया जाना चाहिए। अग्नि पुराण के अनुसार नाडी बंधन कटने से पूर्व विद्वानों के द्वारा जातकर्म संस्कार कराना चाहिए। जैसा कि अग्निपुराण में लिखा है- *अच्छिन्ननाड्यां कर्तव्यं जातकर्म विचक्षणैः।। (अ.पु-153/3)।* जातकर्म संस्कार की विधि का वर्णन करते हुए आपस्तंबगृह्यसूत्र में लिखा है- *जातं वात्सप्रेणाभिमृश्योत्तरेण यजुषोपस्थ आधायोत्त-राभ्यामभिमन्त्रणं मूर्धन्यवघ्राणं दक्षिणे कर्णे जापः।। (आपस्तंबगृह्यसूत्र, षष्ठ पटल, चतुर्दश खण्ड)।*

इस अवसर पर पिता नवजात शिशु को वत्सप्रा स्तोत्र के साथ स्पर्श करता था तथा यजुष् की ऋचाओं के साथ उसे गोद में लेकर मंत्रों के उच्चारण के साथ उसके दाहिने कान में, ओम् की ध्वनि का उच्चारण करता था। स्वर्ण शलाका को मधु एवं घृत के मिश्रण में डुबोकर उसकी जिव्हा पर ओम लिखता था। इस अवसर पर विधिपूर्वक हवन-पूजन आदि करके ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

5. नामकरण संस्कार : जातक के नामकरण संस्कार का भारतीय संस्कृति में विशेष महत्त्व रहा है। महर्षि यास्क के अनुसार, *अणीयत्वाच्च संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।*[16] उक्ति नामकरण की महत्ता की परिचायिका है। नामकरण संस्कार की परम्परा वैदिककाल के प्रारम्भ से ही रही है। उदाहरणतया ऋग्वेद में, *ब्रहस्पते प्रथमं वाचो अरग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।*[17] इसी प्रकार यजुर्वेद में, *कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि ये त्वा सोमनातीतृपाम्।। (यदुर्वेद-7/29)।* नामकरण संस्कार के काल के विषय में मनुस्मृति में मिलता है कि नामकरण संस्कार जन्म से दसवें या बारहवें दिन पुण्यतिथि, नक्षत्र व मुहूर्त देखकर करना चाहिए। *नामधेयं दशयां तु द्वाद्श्यां वाऽस्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।। (मनुस्मृति-2/30)।* अग्निपुराण में भी मिलता है-- *अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।*[18] अर्थात् शुद्धिकरण हो जाने के पश्चात् नामकरण संस्कार किया जाता है। नामकरण के विषय में अग्निपुराण में वर्णन मिलता है कि ब्राह्मण शिशु के नाम के अंत में शर्मा, क्षत्रिय शिशु के नाम के अंत में वर्मा, वैश्य बालक के नाम के अंत में गुप्त, तथा शूद्र बालक के नाम के अंत में दास लगाना चाहिए। *शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्त क्षत्रियस्त तु। गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्त वैश्यशूद्रयोः।।*[19]

इस अवसर पर अनुकूल दिन एवं मुहूर्त में नांदी पाठ करके, ब्राह्मणों को बुलाकर, स्वस्ती-वाचन के उपरान्त पिता शिशु के दाहिने कान में इस प्रकार सम्बोधित करता था- "हे शिशु, तू कुल देवता का भक्त है, तेरा नाम 'अमुक' है। तू 'अमुक' मास में उत्पन्न हुआ है, अतः तेरा नाम 'अमुक' है। तू इस नक्षत्र में जन्मा है, अतः तेरा नाम 'अमुक' है तथा तेरा लौकिक नाम 'अमुक' है। इसके बाद वहाँ पर एकत्रित ब्राह्मण कहते थे, "यह नाम प्रतिष्ठित हो।" तदनन्तर पिता औपचारिक रूप से शिशु द्वारा ब्राह्मणों को अभिवादन कराता था, जो उसे "सुन्दर शिशु", "दीर्घायु हो" आदि आशीष देते थे। इसी समय "तू वेद है" आदि ऋचा का भी उच्चारण किया जाता था। अन्त में उसका अभिवादनीय नाम रखा

जाता था। ब्राह्मण-भोजन कराकर, आदरपूर्वक देवताओं तथा पितरों को अपने-अपने स्थानों को विदा करने पर यह संस्कार समाप्त होता था। प्राचीन काल में ब्राह्मण सन्तति का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक तथा शूद्र का निन्दासूचक शब्दों से युक्त होता था। द्विजों के नाम देवबोधक होते थे। कभी-कभी जिस नक्षत्र में शिशु का जन्म होता, उसी के आधार पर उसका नाम रखा जाता था। इस संस्कार का महत्व लौकिक व्यवहार के निमित ही नहीं वरन् पारलौकिक दृष्टि से भी तथा श्राद्धादि में भी स्पष्टतया दिखायी देता है। सभी शुभ कर्मों में नाम व गोत्र का उच्चारण किया जाता है।

6. निष्क्रमण संस्कार : सुरक्षा की दृष्टि से शिशु को कुछ निर्धारित काल पर्यन्त प्रसूतिका गृह में रखा जाता था। तत्पश्चात् नियतकाल पर निश्चित मुहूर्त का निर्धारण करके उसे प्रथम बार प्रसूतिकागृह से बाहर निकालने के अवसर पर किया जाने वाला संस्कार 'निष्क्रमण' संस्कार कहलाता था। *चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणम्। (म.स्मृ-2/34)। चतुर्थे मासि निष्क्रमः। (या.स्मृ.आचाराध्याय.7)।* जन्म के चार महिने के पश्चात् उचित काल नक्षत्र एवं तिथि देखकर शिशु को प्रथम बार घर से बाहर निकाला जाता था। पिता मांगलिक स्नान आदि करके शिशु के मांगलिक कार्य करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर तथा ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन शिशु की दीर्घायु के लिए निष्क्रमण संस्कार किया जाता था। प्रस्तुत संस्कार का महत्व शिशु की दैहिक आवश्यकता तथा उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अंकन हेतु था। इस संस्कार का व्यावहारिक अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि एक निश्चित समय के बाद बालक को उन्मुक्त वायु में लाना चाहिए और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित रहना चाहिए। इसके माध्यम से यह शिशु के विकासशील मनपर भी अंकित हो जाता था, कि यह विश्व ईश्वर की अपरिमित सृष्टि है तथा इसका आदर विधिपूर्वक करना चाहिए।

7. अन्नप्राशन संस्कार : गर्भावास में मलिन भक्षणादि के दोष की निवृत्ति पूर्वक इन्द्रिय, आयु, बल एवं ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिए अन्नप्राशन संस्कार का विधान था। जन्म के छठे मास में यह संस्कार किया जाता था- *जन्मतः षष्ठेमास्यन्नप्राशन-मितिपारस्करादयः।*[20] मनुस्मृति के अनुसार, *षष्ठेन्नप्राशनं मासि यथेष्टं मंगलं कुले। (म.स्मृ.-2/35)।* जन्म के छठे मास में शिशु का पिता प्राणायाम पूर्वक यह संकल्प करे कि मैं इस कुमार को अन्नप्राशन अथवा भोजन कराने की विधि से शुद्ध करुंगा और फिर ब्राह्मणों को भोजन कराए। फिर मंत्र पढ़कर दही, शहद और घी युक्त अन्न का प्राशन कराना चाहिए। औषधियों का रस तुम्हारे लिए कल्याणकारी हो, इस प्रकार संकल्प करके शिशु को अन्नप्राशन कराना चाहिए। आपस्तंबगृह्यसूत्र में होता है- *जन्मनोधि षष्ठे मासि ब्राह्मणान्भोजयित्वाऽशिषो वाचयित्वा। दधि मधु घृतमोदनमिति सँसृज्योत्तरैर्मन्त्रैः कुमारं प्राशयेत्।*[21] इस संस्कार का महत्व इस दृष्टि से था कि इस संस्कार के पश्चात् शिशु को माता के दूध के स्थान पर अन्य खाद्य पदार्थ खिलाने की व्यवस्था की जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि भोजन के रूप में अवश्य कोई न कोई शक्ति ही मनुष्य को जीवन प्रदान करती है। इसी कारण इस संस्कार के अवसर पर देवताओं की सहायता से शिशु में शक्ति के उस स्रोत को ही प्रविष्ट कराने का प्रयत्न किया जाता था।

8. चूड़ाकर्म संस्कार : इसे केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं। चूड़ाकर्म संस्कार को आजकल मुंडन या जड़ूला उतारना भी कहते हैं। चूडाकर्म अर्थात केशपाशों को काटना। इस संस्कार के माध्यम से शिशु के जन्म के बालों का उच्छेदन करके शिखा मात्र रखने का प्रावधान था। अग्नि पुराण में कहा गया है कि कुल के अनुसार जातक का चूड़ाकर्म संस्कार करना चाहिए- *यथाकुलं तु चूडाकृद्ब्राह्मणस्यस्योपनापनम्।*[22] गृह्यसूत्रों के

अनुसार यह संस्कार बालक के जन्म के पश्चात प्रथम वर्ष के अंत में या तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व संपन्न होता था। यह संस्कार सूर्य के उत्तरायण होने पर सम्पन्न होता था। इस अवसर पर सर्वप्रथम देवताओं का अर्चन किया जाता था व मांगलिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। तत्पश्चात इस संस्कार को किया जाता था। संस्कार के पश्चात ब्रह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा आदि प्रदान कर उनसे शिशु को आशीर्वाद दिलाया जाता था। इस संस्कार का प्रयोजन शिशु के लिये दीर्घायु, सौंदर्य तथा कल्याण की प्राप्ति था। ऐसा विश्वास था कि चूड़ाकर्म संस्कार न करने से आयु का ह्रास होता है, अतएव यह संस्कार शिशु के लिए कल्याणकारी माना जाता था। *जन्मनोधि तृतीये वर्षे पुनर्वस्वोः। ब्राह्मणानां भोजनमुपायनवत्।। सीमन्तवदग्नेरुपसमाधानादि।।*[23]

9. कर्णवेध संस्कार : यद्यपि कर्णवेध संस्कार के विषय में वेद, स्मृति आदि ग्रंथों में विस्तृत उल्लेख प्राप्त नहीं होता, तथापि अथर्ववेद का प्रस्तुत मंत्र इस संस्कार को प्रमाणित करता है- *लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयचोः कृधि। अकर्तामश्विना लक्ष्य तदस्तु प्रजया बहु।। (अथर्ववेद, 6/14/2)*। षोडश संस्कारों में कर्णवेध संस्कार की भी गणना होती है, इसके अन्तर्गत लौह शलाका से जातक के दोनों कानों को छेदा जाता था ताकि संतति का कल्याण हो सके। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार, जातक के तृतीय या पंचम वर्ष में कर्ण वेध किया जाता था अथवा छठे, सातवें या आठवें मास में करना चाहिए या बारहवें या सोलहवें वर्ष में दिन के समय, ना कि रात्रि को यह संस्कार करना चाहिए। प्रस्तुत संस्कार की उपयोगिता के विषय में आचार्य सुश्रुत की मान्यता है कि स्वास्थ्य रक्षण तथा सौंदर्य वर्धन के लिए शिशु के कानों को छेदना चाहिए । इस संस्कार के द्वारा अंडकोष एवं आन्त्रवृद्धि आदि रोगों से सुरक्षा होती है। *(क) रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णो विध्येत्। (ख) शङ्.खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्। व्यत्यासाद्वं शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवत्तये।।*[24]

10. उपनयन संस्कार : 'उप' उपसर्ग पूर्वक नी धातु से ल्युट प्रत्यय करने पर उपनयन शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है- समीप ले जाना। अर्थात जीवन की शिक्षा ग्रहण करने के लिए गायत्री मन्त्रोच्चारण पूर्वक गुरु के समीप ले जाना उपनयन कहलाता है। उपनयन संस्कार के काल के विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है - *गर्भाष्टमेष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्। राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्।। (या.स्मृ.-1/14)*। अर्थात जन्म के आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का एवं वैश्य का उपनयन संस्कार कुल परम्परा के अनुसार किया जाना चाहिए। महर्षि मनु के अनुसार, ब्राह्मण का उपनयन संस्कार पांचवें वर्ष में, क्षत्रिय का छठे वर्ष में तथा वैश्य का आठवें वर्ष में किया जाना चाहिए- *ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।। (म.स्मृ.-2/37)*। अग्नि महापुराण में भी उपनयन संस्कार के बारे में इस प्रकार लिखा है- *गर्भाष्टमोऽष्टमे वाब्दे गर्भादेकादशेनृपे। गर्भातु द्वादशे वैश्ये षोडशाब्दादितो नहि।। (अ.पु.-253/6)*।

मूलतः शिक्षा प्राप्ति ही उपनयन संस्कार का प्रयोजन था। केवल अध्ययन प्रारंभ करने से पूर्व एक ही बार यह संस्कार नहीं किया जाता था, अपितु वेद की किसी भी शाखा के अध्ययन से पूर्व उपनयन करना आवश्यक था। *यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्। तच्छाखाध्ययनं कार्यमेवं न पतितो भवेत्।।*[25] गुरु, शिष्य का उपनयन संस्कार करने के बाद ही उसे आचार एवं शौच की शिक्षा प्रदान करते थे। *उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्। वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।। (या.स्मृ 1/15)*। आश्वलायनसूत्र में उपनयन संस्कार की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण मिलता है- प्रस्तुत संस्कार शुभ समय एवं मुहूर्त देखकर किया जाता था। सामान्यतः सूर्य के

उत्तरायण होने पर यह संस्कार किया जाता था, किन्तु वैश्य एवं क्षत्रियों के लिए सूर्य के दक्षिणायण होने पर यह संस्कार किया जाता था। *उत्तरायण सूर्ये कर्तव्यं ह्योपनायनम्। (पारस्करगृह्यसूत्र,22)। दक्षिणे तु विशां कुर्यात्।*[26] ब्राह्मण का वसंत ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में, वैश्य का शरद ऋतु में तथा रथकार का वर्षा ऋतु में उपनयन संस्कार किया जाता था। *वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारमति।(बौधायनगृह्यसूत्र-2/56)।*

पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार, इस संस्कार के एक दिन पूर्व अनेक पौराणिक विधि-विधान किए जाते थे। उपनयन के पूर्व बालक के शरीर पर हल्दी द्रव्य का लेप किया जाता था और उसकी शिखा से एक चांदी की अँगूठी बाँध दी जाती थी। इसके पश्चात् उसे सम्पूर्ण रात्रि मौन रह कर व्यतीत करनी पड़ती थी। दूसरे दिन प्रातःकाल अन्तिम बार माता और पुत्र साथ-साथ भोजन करके फिर अनेक बालकों को तथा ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था तत्पश्चात् बालक को माता-पिता आहवनीय अग्नि से युक्त मंडप में ले जाते थे और उसका मुण्डन होता था। उसका चूड़ाकरण पहले से हो चुका हो तो साधारण रूप से ही नापित द्वारा क्षौर किया जाता था। फिर बालक को स्नान कराकर वस्त्र पहनाए जाते थे। उस समय *"तेन त्वं परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय बर्चस इति"* मंत्र पढ़ता था और अग्नि के पश्चिम में बैठता था। इस अवसर परआचार्य बालक की कटि पर एक मेखला बाँध देते थे। यह मूँज की होती थी। यह तीन लड़ की मेखला आत्मा के तीनों गुणों - सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की प्रतीक होती थी। इस प्रकार मेखला बाँध कर ब्रह्मचारी के शरीर पर उन तीनों गुणों की एकता स्थापित की जाती थी। इसके लिए "मेखलाबंधने विनियोगः" कहा गया है। इस मेखला द्वारा ब्रह्मचारी के अवगुण दूर होते थे। इसके बाद ब्रह्मचारी को अजिन अर्थात् बकरे या मृग का चर्म दिया जाता था इससे अपानों को बल प्राप्त होता था। अत्यधिक परवर्ती काल में मेखला या कटिसूत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः कपास, सन एवं ऊन की धारण करता था।

11. वेदारंभ संस्कार- वेदारम्भ संस्कार का उल्लेख केवल व्यासस्मृति में प्राप्त होता है। उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। अतएव प्रायः सभी धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में इसका अंतर्भाव उपनयन संस्कार में ही माना गया है। जैसा कि *पारस्कर ग्रह्यसूत्र* में प्राप्त होता है - *अष्टचत्वारिंशत् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यमाचरेत्। (2/5/13)।* गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का उल्लेख नहीं किया गया है। वस्तुतः उपनयन संस्कार में ही इसका अन्तर्भाव मान लिया गया था, क्योंकि उपनयन संस्कार के साथ ही बालक का वेदाध्ययन भी प्रारम्भ हो जाता है। कालान्तर में उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिए यह संस्कार प्रवृत हुआ। षोडश संस्कार में यह महत्वपूर्ण संस्कार है। बालक का यह संस्कार उसी समय सम्पन्न होता था, जब विद्यार्थी यथार्थ में वैदिक स्वाध्याय प्रारम्भ करता था। इस अवसर पर किसी शुभ दिन में मातृपूजा, आभ्युदयिक श्राद्ध आदि आवश्यक कृत्य करके गुरु के द्वारा लौकिक अग्नि की प्रतिष्ठा करके अभिमंत्रित विद्यार्थी को अग्नि के पश्चिम में बैठाया जाता था और फिर साधारण आहुतियाँ दी जाती थी। ऋग्वेद आरम्भ करना होता तो घृत की दो आहुतियाँ अग्नि और पृथ्वी को दी जाती थीं, यजुर्वेद के लिए अंतरिक्ष और वायु को, सामवेद के लिए द्यौ और सूर्य को और अथर्ववेद आरम्भ करना होता तो दिशाओं और चन्द्र को आहुतियाँ दी जाती थीं। यदि सभी वेदों का एक-साथ ही अध्ययन आरंभ करना होता, तो उक्त सभी आहुतियाँ साथ ही दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छन्दस् व प्रजापति के होम किए जाते थे। अन्त में आचार्य ब्राह्मण पुरोहित को दक्षिणा देकर वेद का अध्ययन प्रारम्भ करता था।

12. केशान्त संस्कार : यह संस्कार गोदान

संस्कार के नाम से भी जाना जाता है। यह संस्कार शरीर एवं व्यवहार से सम्बन्धित है। केशान्त संस्कार के साथ ही ब्रह्मचर्य की समाप्ति हो जाती है। इसके विषय में मनुस्मृति में मिलता है- *केशान्तः षोड़शे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते। राजन्यबन्धोद्वाविंशे वैश्यस्य द्वयधिके ततः।। (मनुस्मृति, 2/65)*। केशान्त संस्कार की अनुष्ठान विधि एवं महत्व के अंतर्गत ब्रह्मचारी की दाढ़ी मूंछों का, जो कि तरुण होने का लक्षण है सर्वप्रथम क्षौर किया जाता था तथा नाई को विभिन्न उपहार दिए जाते थे। इसी अवसर पर आचार्य को गाय का दान भी दिया जाता था। दाढ़ी मूंछों का प्रथम बार क्षौर होने के कारण इसे केशांत तथा गो का दान दिए जाने के कारण इसे गोदान संस्कार कहा जाता था। यह संस्कार भी चूड़ाकर्म के समान ही होता था। दोनों में अंतर केवल यही था कि इसमें सिर के बालों के स्थान पर केवल दाढ़ी मूंछों का क्षौर होता था। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य को एक गाय दान दी जाती थी। अंत में वह मौन व्रत का पालन कर तथा एक वर्ष पर्यंत कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करता था। आपस्तंबगृह्यसूत्र में गोदान संस्कार के बारे में निर्दिष्ट है- *एवं गोदानमन्यस्मिन्नपि नक्षत्रे षोडशे वर्षे।। अग्निगोदानो वा स्यात्। एतावन्नाना सर्वान् केशान्वापयते।।*[27] *गोदान चौलवत्कल्पः। (खादिर गृह्यसूत्र-1/5/1)*।

13. समावर्तन संस्कार : सम्-आ उपसर्गपूर्वक 'वृतु' धातु से ल्युट प्रत्यय करने पर 'समावर्तन' शब्द निष्पन्न होता है। वेदाध्ययन के पश्चात गुरुकुल से अपने घर वापिस आगमन पर किया जाने वाला यह संस्कार समावर्तन संस्कार कहलाता था। महर्षि मनु के अनुसार- *वेदं समाप्य स्नायाद् ब्रह्मचर्य वाष्टचत्वारिंशत्। गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।। (म.स्मृ, 3/4)*। अग्निपुराण में भी वेदाध्ययन के पश्चात् गुरु को दक्षिणा देकर समावर्तन संस्कार का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा- *वेदस्वीकरणं कृत्वा स्नायाद्वै दत्तदक्षिणाः।। (अ.पु., 253/17)*।

प्रस्तुत संस्कार के अवसर पर स्नान से पूर्व विद्यार्थी गुरु से शिक्षा समाप्ति के लिए प्रार्थना करता था और उसे पृथ्वी, स्वर्ण, गाय ,अश्व, छत्र आदि दक्षिणा के रूप में देकर संतुष्ट करता था। संस्कार के शुभ दिन ब्रह्मचारी विद्यार्थी को स्नान से पूर्व एक कमरे में बन्द कर दिया जाता था कि कहीं सूर्य स्नातक के तेज से अपमानित न हो जाये। क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि सूर्य स्नातक के तेज से ही प्रकाशित होता है। मध्याह्न में ब्रह्मचारी कमरे से बाहर आकर गुरु के चरणों में प्रणाम कर अंतिम बार वैदिक अग्नि में आहुति देता था तथा वहाँ रखे आठ जलपूर्ण कलशों में से एक में से 'ब्रह्मचर्य की अग्नि' अर्थात तेज को त्यागने तथा उसी अग्नि से समृद्धि प्राप्त होने की बात कहते हुए जल ग्रहण करता था। फिर उन कलशों के जल से अनेक ऋचाओं के वाचन के साथ स्नान करता था। तदुपरान्त वह ब्रह्मचर्य के मेखला, मृगचर्म आदि चिह्नों को जल में फेंक कर एक नवीन कौपीन धारण करता था। इस प्रकार अपनी नवीन वेशभूषा से अलंकृत होकर वह "स्नातक" अर्थात् जिसने विद्यावारिधि में स्नान कर लिया हो, विद्वानों के निकटतम स्थित समाज की ओर एक हाथी या रथ पर आरूढ़ होकर जाता था और वहाँ आचार्य के द्वारा उसका परिचय एक सुयोग्य विद्वान के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार उस स्नातक के स्नातकोपयुक्त सम्मान प्राप्त कर लेने के बाद ही यह संस्कार समाप्त होता। इस अवसर पर आचार्य उसे जीवन सम्बन्धी उपदेश भी देता था- *सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाद्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहत्य प्रजातन्तु ना व्यवच्छेत्सी। सत्यान्न प्रमदितव्यम्ः। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।*

14. विवाह संस्कार : वि उपसर्ग पूर्वक वह् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'विवाह' शब्द सिद्ध होता है। *विशिष्ट वहनं इति विवाहः। उपायतः प्राप्तायाः कन्यायाः दारकर्मणार्थः संस्कार पाणिग्रहण लक्षणम्।*[28] अतएव पत्नी बनाने के लिए संस्कार

पूर्वक कन्या का पाणिग्रहण कर अपने घर ले जाना 'विवाह' कहलाता है। इस संस्कार का भारतीय संस्कृति में विशिष्ट महत्व रहा है, जैसा कि तैत्तरीय ब्राह्मण में मिलता है - *अयज्ञियो वा एष योपत्नीकः। (तै.ब्रा-2/2/2/6)।* अर्थात् पत्नी रहित पुरुष यज्ञहीन के समान होता है। एकाकी पुरुष असम्पूर्ण होता है। पत्नी के साथ ही पूर्णता को प्राप्त करता है- *अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी। (तै.ब्रा-2/9/4/6)। यावन्न विन्दते जायां तावदर्धो भवेत् पुमान्। (या.स्मृ.-2/24)।*

विवाह समस्त संस्कारों में गौरवशाली तथा महत्वपूर्ण माना जाता था। इस संस्कार के द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था। यहाँ से व्यक्ति का सामाजिकरण होकर उसके उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का प्रारंभ होता था। अतः यह संस्कार व्यक्तिगत न होकर एक पारिवारिक-सामाजिक विषय था जो वंश की अक्षुण्णता को बनाए रखने के लिए तथा संतान उत्पत्ति करने के उद्देश्य से किया जाता था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय इसी संस्कार पर निर्भर करते थे। विवाह संस्कार के अंतर्गत वाग्दान, वरवरण, कन्यादान, विवाह होम, पाणिग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुव दर्शन, त्रिरागव्रत तथा चतुर्थी कर्म आदि संपादित किए जाते थे। विवाह के लिए उद्वाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि शब्द भी प्रचलित हैं। उद्वाह का अर्थ- वधू को उसके पिता के घर से ले जाना है। परिणय का अर्थ है- चारों ओर घूमना तथा अग्नि की परिक्रमा करना है। उपयम का अर्थ है- किसी (वधू) को निकट लाकर अपना बनाना है तथा पाणिग्रहण का अर्थ है- वधू का हाथ पकड़ना। विवाह में पति-पत्नी का जन्म जन्मांतर का संबंध जुड़ जाता था। आपस्तम्बगृह्यसूत्र के अनुसार विवाह की विधि के चरण इस प्रकार हैं--1. वरवध्वोरासनग्रहणम् 2. पाणिग्रहणम् 3. सप्तपदी 4. अग्निप्रदक्षिणा 5. अशरमारोहणम् 6. लाजाहोमः 7. जयो होमः 8. वधूप्रस्थानम् 9. रथारोहणम् 10. रथोत्तम्भनम् 11. सूत्रोपरिगमनम् 12. मार्गे मंत्रपाठः 13. नावारोहणम् 14. श्मशानादौ मंत्रपाठः 15. अन्यनिमित्तेषु मंत्रपाठ 16. वध्वा वरगृहदर्शनम् 17. गृहप्रवेशः 18. वध्वोरुपस्थे शिशुस्थापना 19. ध्रुवादिदर्शनम् 20. आज्यभागाहुतयः 21. स्थालीपाकयज्ञः 22. त्रिरात्रव्रतम्: 23. चतुर्थीकर्मः। मनुस्मृति के अनुसार विवाह के मुख्यतः आठ प्रकार थे। *ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चैष्टमोधमः।। (म.स्मृ.-3/21)।* अर्थात् ब्राह्मविवाह, दैवविवाह, आर्षविवाह, प्राजापत्यविवाह, आसुरविवाह, गान्धर्वविवाह, राक्षसविवाह तथा पैशाचविवाह। विवाह संस्कार के मुख्यतया दो उद्देश्य थे- 1. पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाना, सेवा व रति सुख। 2. पुत्रोत्पत्ति के द्वारा कुल की नरक से रक्षा करना। *अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ।। (म.स्मृ.-9/28)।*

15. अग्न्याधान संस्कार : विवाह संस्कार के अवसर पर जिस अग्नि में हवनादि कार्य सम्पादित किए जाते थे उसी को यहाँ अग्नि कहा गया है। विवाह की अग्नि लाकर घर में स्थापित करने की क्रिया इस संस्कार में की जाती थी। विवाह की अग्नि को लाने के विषय में गृह्यसूत्रों में मिलता है कि वैश्य के घर से अग्नि लाकर विवाह मंडप में पवित्र भूमि पर मंत्रों एवं उचित विधि के अनुसार स्थापित करनी चाहिए तथा अग्नि की प्रदक्षिणा करके हवनादि कार्य करने चाहिए। जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में मिलता है - *कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु।।*[29]

16. अन्त्येष्टि संस्कारः यह भारतीय संस्कृति में अन्तिम संस्कार माना जाता है। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात यह संस्कार किया जाता है। इसका वर्णन वैदिककाल से लेकर पुराणसाहित्य पर्यन्त प्राप्त होता

है। सूत्रकारों के अनुसार जातकर्म संस्कार आदि के द्वारा मनुष्य जीवन में अभ्युदय प्राप्त करता है तथा अन्त्येष्टि संस्कार द्वारा परलोक की प्राप्ति करता है। बोधायनगृह्यसूत्र में मिलता है - *जातकसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्।*[30]

यह मनुष्य का अंतिम संस्कार है। संस्कारों का उद्देश्य आत्मा का अभ्युदय करना भी था। आत्मा पंचतत्त्व का शरीर आच्छादित किए हुए है। इस में बन्दी बनी आत्मा राग, द्वेष आदि षड् रिपुओं के नियन्त्रण में पड़ कर उनके अधीन हो जाती है। इनको परास्त करने के बाद आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अन्त्येष्टि संस्कार का संपादन किया जाता था। इस अंतिम संस्कार की संपन्नता में यह भाव निहित था कि मृतक परलोक में शान्ति प्राप्त करेगा। "इस संस्कार द्वारा परलोक विजित होता है"(बौधायन)। अन्त्येष्टि संस्कार में शव ले जाने के लिए बांस की अर्थी प्रयोग में लायी जाती थी। शव यात्रा में सगे सम्बन्धियों के साथ मित्रादि होते थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र सबसे आगे रहता था। पुराणों के अनुसार मृत शरीर को स्नान कराकर, पुष्पमाला से सजाकर, जलाशय में अर्थी सहित स्नान कराकर दाह किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् सभी सम्मिलित लोगों को जलाशय में सवस्त्र स्नान करके जलांजलि देनी चाहिए। शव जल जाने के उपरान्त अवशेष की भी दाह-क्रिया होती थी। कुछ समय तक मृतक के सम्बधी अशौच में रहते थे। अशौच की अवधि प्रायः तेरह दिन की होती थी। इसकी शुद्धि के उपरान्त शान्ति और श्राद्ध क्रिया की जाती थी। पिण्डदान, श्राद्धकर्म और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था। हिन्दुओं में अन्येष्टि संस्कार प्राचीन शास्त्रोक्त विधि से आज भी सम्पन्न किया जाता है।

षोडश संस्कारों का महत्व एवं प्रासंगिकता

संस्क्रियतेनेनेति संस्कार : अर्थात् वह शुद्ध धार्मिक क्रिया जिसके द्वारा मनुष्य अपना शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक परिष्कार करता हुआ इहलोक में उन्नति को प्राप्त कर आत्मतत्व के मार्ग के लिये अग्रसर होता है। मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिये भारतीय संस्कृति में प्रतिपादित षोडश संस्कारों का विशेष महत्त्व है।

संस्कारों के द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है, अतएव पूर्ण विकसित मानव ही समाज के संपूर्ण दायित्वों का वहन करने में समर्थ हो सकता है। संस्कार से हीन व्यक्ति अनेक प्रकार की संकीर्णताओं को प्राप्त होकर सामाजिक मर्यादा को तोड़ने के लिए सनद्ध रहता है। विद्या संपन्न होते हुए भी यदि मनुष्य संस्कारहीन है तो वह अपनी विद्या का दुरुपयोग ही करता है। संस्कार एवं विवेक से हीन व्यक्ति विकृत मानसिकता के वशीभूत होकर अपने धन एवं शक्तिओं का दुरुपयोग करने में हिचकिचाता नहीं है। बाल्यकाल से ही जिस परिवार में बच्चे को श्रेष्ठ संस्कार दिए जाते हैं, वह बालक युवावस्था में पारिवारिक दायित्वों को पूरा करता हुआ एक श्रेष्ठ सामाजिक नागरिक के रूप में सामने आता है। संस्कारवान पीढ़ी अपने माता पिता एवं गुरुजनों का सम्मान करना सीखती है। अतः सुन्दर समाज के निर्माण के लिए संस्कारवान एवं सदाचारी नागरिक की आवश्यकता है। भारतीय संस्कृति में प्रतिपादित उपर्युक्त संस्कार मनुष्य में श्रेष्ठ प्रवृत्तियों - सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, प्रेम, सौहार्द एवं इन्द्रिय निग्रह आदि गुणों को विकसित करते हैं। इन गुणों की वर्तमान समय में अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि वर्तमान समाज में इन गुणों का लोप होता दिखाई दे रहा है।

संस्कारवान युवक कोई भी ऐसा आचरण नहीं करता जिससे उसके देश या समाज को किसी प्रकार की हानि हो। श्रेष्ठ गुणों से युक्त व्यक्ति ही देशभक्ति की भावना से युक्त हो सकता है, जैसा कि मनुस्मृति में भी कहा गया है- *सत्येन ब्रह्मचर्य व्यायामेनाऽथ*

विद्यया। देशभक्त्या आत्मबोधेन सम्मानाहो सदा भव। भारतीय संस्कृति में प्रतिपादित संस्कारों का वैश्विक शांति एवं उन्नति की स्थापना में भी अत्यधिक महत्त्व है। संस्कार हमें धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं। धर्म के मार्ग पर चलकर मानव परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, भय, हिंसा एवं वैमनस्य की भावनाओं से मुक्त हो सकता है। उदात्त गुणों एवं संस्कारों के कारण ही हमारा देश सदियों तक विश्वगुरु के पद पर विराजमान रहा। मनुस्मृति के अनुसार - *एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः।।(म.स्मृ.-2/20)।*

संदर्भ

1. शांकर वेदान्त सूत्र-1/1/4। **2.** तंत्रवार्तिकम्-पृ.-2078। **3.** श्रीमद्भगवद्गीता-18/5। **4.** मनुस्मृति--2/16। **5.** व्यासस्मृति-2/23-25। **6.** पूर्वमीमांसा-1/4/2। **7.** याज्ञवल्क्यस्मृति-आचाराध्याय-79। **8.** मनुस्मृति-3/48। **9.** यालवल्क्यस्मृति-आचाराध्याय-11। **10.** आपस्तंबगृह्यसूत्र-6/14/9। **11.** वीरमित्रोदयसंस्कार। **12.** आपस्तंबगृह्यसूत्र-6/14/10। **13.** वीरमित्रोदयसंस्कार। **14.** आपस्तंबगृह्यसूत्र-6/14/3। **15.** मनुस्मृति-2/29। **16.** निरुक्त-1/2। **17.** ऋग्वेद-1/71/1। **18.** अग्निपुराण-153/4। **19.** अग्निपुराण-153/5। **20.** पारस्करगृह्यसूत्र-2/19/1। **21.** आपस्तम्बगृह्यसूत्र-6/15/1। **22.** अग्निपुराणम्-253/6। **23.** आपस्तंबगृह्यसूत्र-6/15/3-5। **24.** सुश्रुतशरीरस्थानम्। **25.** वशिष्ठ संहिता। **26.** वीरमित्रोदय पृ. 345। **27.** आपसतंबगृह्यसूत्र-6/16/12-13। **28.** मनुस्मृति भाष्य-3/20। **29.** या. स्मृ., आचाराध्याय-97। **30.** बोधायनपितृमेधसूत्र-3/1/4।

सहायक आचार्य (संस्कृत)
महारानी श्री जया राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भरतपुर (राजस्थान)-321001
ईमेल - dimpalmsj10@gmail.com
मो. 9529720995

[प्रसंगवश श्री जानकीनारायण श्रीमाली (बीकानेर) के उपन्यास 'राती घाटी' में दिया गया संस्कारों का वर्णन प्रस्तुत है। -सं.] **गर्भाधान :** सुहागन स्त्रियाँ ऋतुमती स्त्री को नारियल व ऋतुफल भेंट कर सूर्य-दर्शन कर ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, अग्नि (विशेष रूप से मारुत नामक अग्नि) की पूजा-प्रार्थना करायें। गायत्री मंत्र से हवन कर यथाशक्ति भोजन-दक्षिणा से उत्साहपूर्ण वातावरण में, ऋतुमती स्त्री रात्रि में शुभ मंच या पलंग पर पूर्व दिशा की ओर सिर कर पति से समागन करे।

ऋतुमती पत्नी को रतिदान करना पति का अनिवार्य कर्तव्य कहा गया है। परंतु दोनों को स्थान, समय, मुहुर्त, पर्व आदि का उचित संयम आवश्यक है। कथा आती है- महर्षि कश्यप सायंकालीन सूर्य-गायत्री की उपानसा से उठे ही थे कि उनकी एक कामातुर पत्नी दिती ने उनसे ऋतुदान की याचना की। महर्षि ने दिती से कहा कि प्रातः, मध्याह्न, सायं समागम के लिए वर्जित है। परंतु दिती नहीं मानी, परिणामस्वरूप उस समय गर्भाधान से दैत्यों की उत्पत्ति हुई।

पुंसवन : गर्भाधान के बाद आठवें माह में प्राण तत्त्व की प्राप्ति होती है। अत 8वें माह में पुंसवन संस्कार के अंतर्गत विष्णु की पूजा, गीत-संगीत, सामूहिक भोज होता है। इस समारोह की अधिष्ठात्री गर्भिणी स्त्री होती है और गर्भस्थ शिशु इष्ट होता है। गर्भिणी को सुगंधित पुष्प धारण करा नारीयल, गुड़, मिठाई, गेहुँ के अक्षत दाने भेंट किये जाते हैं।

राजस्थान में इसे अगरणी कहा जाता है जिसे पुंसवन व सीमन्तोन्नयन भी कहा जाता है।

जात-कर्म : दाई ओर विज्ञ स्त्रियाँ सकुल प्रसव कराती हैं। सामान्यतः गर्भाधान को नौ माह हो जाने पर शिशु का जन्म होता है। गर्भिणी स्त्री और गर्भस्थ शिशु के लिए प्रसव-काल अत्यंत कठिन काल होता है। दाई ओर अनुभवी स्त्रियों के द्वारा सकुशल प्रसव करा लेने पर खुशी छा जाती है। संतान के जन्म लेते

ही बेला-लेरावणी अर्थात जन्म समय की नोंध ली जाती है जिसके आधार पर ज्योतिषी द्वारा जातक की जन्म-कुंडली बनवायी जाती है। जातक के जन्मते ही घर में सूआ (स्यावड़) अर्थात अशुद्धि हो जाती है। चाकू या कटारी से नाल या ओवल (जिसके द्वारा गर्भिणी और गर्भस्थ शिशु जुड़े रहते हैं) काट कर दाई या स्त्री का देवर पालसिये में रख किसी जगह गाड़ आता है। दाई माई को आखा, गुड़, वस्त्र, नकद भेंट किए जाते हैं। स्त्री की ननद छत पर चढ़ कर कांसी की थाली बजाती है।

अन्नप्राशन : पुत्र के छह या आठ का माह और पुत्री के पाँच या सात माह की होने पर यह संस्कार होता है। चन्द्रादि ग्रहों की अनुकूलता देख निश्चित किये मुहूर्त को पति-पत्नी द्वारा शुचि नामक अग्नि का पूजन कर घृत की आहूतियाँ दी जाती हैं। फिर कांसे के पात्र में व्यंजन रख माता की गोद में बैठे शिशु को स्वर्ण शलाका से पकवान खिलाया जाता है, फिर माता बालक का मुँह तीन बार जल से धोती है। अन्न की ढेरी पर पुस्तक, लेखनी, वस्त्र, अंगूठी आदि रख शिशु को उसकी तरफ छोड़ देते हैं। घुटनों के बल चलता शिशु जिस वस्तु को हाथ में लेता है उससे उसकी अभिरुचि का निर्णय होता है और फिर उसके अनुरूप ही उसको शिक्षा दी जाती है। सब लोग शिशु को आशीष देते हैं।

प्रथम जन्मोत्सव : शिशु को तिल-हल्दी मिले जल से स्नान करा नये वस्त्र पहनाते हैं। पिता-पुत्र गणेश, इन्द्र व कुलदेवी का पूजन करते हैं। पंडितजी पाट पर सफेद वस्त्र बिछा उस पर दही-चावल का लोंदा रख दिशाओं का अह्वान करते हैं। पिता सप्त चिरंजीवी - मार्कण्डेय, अश्वथामा, बली, वेदव्यास, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम, हनुमान का स्मरण करते हैं फिर दसों दिशाओं का पूजन होता है। पंचतत्वों का पूजन कर हवन किया जाता है। तिलपात्र एवं घृतपात्र का दान दिया जाता है। शिशु के माथे पर रोली तिलक व दाएं हाथ पर राखी बांध कर दीप प्रज्वलित कर उसका दर्शन शिशु को कराया जाता है, फिर सामूहिक भोज होता है। बधाई के गीत महिलाएं गाती हैं।

चूड़ा कर्म (मुंडन) संस्कार : जातक के 3 से 5 वर्ष के होने तक नव जातक के सिर के बाल अशुद्ध रहते हैं और उनमें आकर्षण शक्ति होती है, यहाँ तक कि आकाशीय विद्युत भी उन पर आकर्षित हो जाती है। ऐसे सासाकेश बालकों को वर्षा ऋतु में माताएं छत पर या खुले में नहीं ले जाती। शुद्धि के लिए सिर के बाल काटना ही चूड़ाकर्म या मुंडन संस्कार कहा जाता है। यह बालक के 3 या 5 वर्ष का होने पर और विशेष परिस्थिति में एक वर्ष का होने पर किया जाता है। पंडित द्वारा बताए शुभ मुहूर्त में गणेश, नवग्रह और मातृका तथा कुलदेवी-देवता का पूजन कर उसके सामने बालक का मुंडन होता है जिसे जडूला उतारना भी कहते हैं। माता द्वारा नाई की कैंची व उस्तरे की पूजा की जाती है। माता बालक को गोद में लेकर बैठ जाती है और बुआ बालक पर ओढ़नी से छाया करती है। नाई पहले कैंची से बाल काटता है जिनको कपड़े में लपेट कर कुलदेवता को अर्पित कर दिया जाता है। फिर नाई उस्तरे से मुंडन करता है। बालों के वजन के बराबर सोना या चांदी या सिक्के सुहासिनियों (बुआ, बहिनों) को दिया जाता है। सवा माह बाद फिर मुंडन कर शिशु के सिर पर शिखा रखदी जाती है।

कर्ण छेदन : बालक के एक या सवा वर्ष का होने पर शुभ मुहूर्त में सुनार से कान की लोल (लटकन) को बिंधवाया जाता है। सुनार तीखे औजार से पुत्र का दाहिना कान बींधता है फिर बायां कान बींधता है। कन्या का पहले बायां कान और फिर दाहिना कान बिंधवाया जाता है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार कर्ण वेधन से आंत-वृद्धि का रोग नहीं होता। कर्ण छेदन के बाद छेद में नीम की सूखी पतली सींक डाली जाती है और कुछ दिन तक उसे हल्दी मिले घी से रूई के फाहे द्वारा सेका जाता है।

बाद में इन छेदों में लड़के को सोने या चांदी की लूंग डाली जाती है और लड़की के बालियाँ। कालांतर में इनमें अन्य आभूषण पहन सकते हैं। लड़की का नाक भी छेदा जाता है जिसमें वह बाली, बड़ी हो कर विवाहित होने पर नथ पहन लेती है। वस्तुतः इस छेदन का उद्देश्य आभूषण धारण करना ही है। कुछ वर्षों पूर्व तक लड़के भी लूंग, कुड़की जैसे आभूषण धारण करते थे।

यज्ञोपवीत (उपनयन) : चार में से प्रथम तीन वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का यज्ञोपवीत संस्कार होता है। यज्ञोपवीत धारण करने वाले की द्विज (अर्थात दूसरी बार जन्मा) संज्ञा हो जाती है। तीनों वर्णों में बालक की क्रमशः 5, 8 व 12 वर्ष की वय होने पर यह संस्कार कराया जाता है। बालक का मुंडन कर अभ्यंग स्नान करवा कर लंगोटी पहनाकर, यज्ञोपवीत (नौ सूत्रों से बनी) धारण करा शरीर पर मृगछाला धारण करा हाथ में दंड देकर मस्तक पर चंदन लगा बटुक बना देते हैं। फिर उससे अग्निहोत्र हवन कराया जाता है जिसमें सभी परिजन सम्मिलित होते हैं। हवन कराने वाला ब्राह्मण गुरु उसके कान में गायत्री मंत्र सुनाते हैं। उपस्थित परिजनों से भिक्षांदेहि कहकर वह अपनी झोली में तीन बार भिक्षा लाता है। पहली भिक्षा गुरु को, दूसरी माता को और तीसरी दाईमां को अर्पित करता है। इस संस्कार के बाद बालक विद्याध्ययन, वेदाध्ययन, देव-कर्म, पितृ-कर्म व अग्निहोंम का अधिकारी हो जाता है और उसे अपनी दिनचर्या में कई नियमों का पालन करना पड़ता है। यह बटुक ब्रह्मचारी अध्ययन के लिए गुरुकुल में चला जाता था। *(अब संस्कार केवल सामाजिक रस्म अदायगी बन कर रह गये हैं। सामान्यतः शास्त्रीय विधि-विधान का लोप होकर, लोकाचार रह गया है और सोलह में से जातकर्म, चूड़ाकर्म, विवाह और अंत्येष्टि संस्कार ही व्यवहार में रह गये हैं - सं.)* ●

आवाज लगाते रहिए

'पुन्न पांगलो हुवै
कोई चलावै तो चालै।'

पुण्य पंगु होता है, यदि कोई चलाने वाला, कोई प्रेरक मिल जावे तो पुण्य चल पड़ता है। नहीं तो पुण्य पड़ा-पड़ा सड़ा करता है।

इतिहास साक्षी है-- जब कोई आवाज देने वाला मिल जाता है तो लोग जाग जाते हैं और उनके भीतर सोए पुण्य के पंख उग आते हैं, नहीं तो समाज पेट के गोरखधंधे में लगा सोया करता है।

बादल तो स्थिर है-- हवा की प्रेरणा उन्हें इधर-उधर ले जाकर बरसने को तैयार करती है।

हनुमान बैठे-बैठे रहते हैं-- कोई जाम्बवान् मिले तो सागर लांघा जावे।

चंद्रगुप्त को किसी चाणक्य की प्रतीक्षा है। हजारों वर्षों से गुलाम राष्ट्र की संचेतना के लिए चाहिए -- कोई दयानंद, कोई तिलक, कोई गांधी।

यों कवि तो गाते ही हैं--

कोई जागे कि न जागे,
मुकद्दर उसका,
अपना फर्ज है
आवाज लगाते रहिए।

पर, यह आवाज किसी चारित्र्य से जब स्फुरित होती है तो इतिहास में नए सुनहरे अध्याय लिखे जाते हैं।

'उठ जाग मुसाफिर भोर भई!'

तिरुक्कुरल के सुभाषित

प्रो. राजेन्द्र गर्ग

ईस्वी पहली-पाँचवीं शताब्दी के बीच हुए कवि तिरुवल्लुवर द्वारा रचित तमिल भाषा का प्राचीन नीति ग्रंथ 'तिरुक्कुरल' भारतीय सुभाषित ग्रंथ परम्परा में अद्वितीय स्थान रखता है। ग्रंथ के नाम में दो पद हैं 'तिरु' और 'कुरल' 'तिरु' का अर्थ है श्रेष्ठ, पवित्र, उच्च अथवा महान्। 'कुरल' का अर्थ है लघु या छोटा। इस प्रकार तिरुक्कुरल का तात्पर्य हुआ कम शब्दों में कहे गये महान कथन। ग्रंथ के नीति-कथन तमिल साहित्य में प्रचलित 'कुरलवेणवा' छंद में लिखे गये हैं जो कम शब्दों में अधिकाधिक अर्थ प्रकट करने के लिये प्रसिद्ध है। हिन्दी के 'दोहा' छंद की तरह यह छंद लघुकाय होते हुए भी अर्थगांभीर्य के कारण सहृदय पाठक के मर्म को स्पर्श करने की क्षमता रखता है। वैसे भी कम से कम शब्दों में बड़ी से बड़ी बात कहने से श्रोता या पाठक के हृदय में एक गूंज पैदा होती है जो बहुत लंबे समय तक और कभी-कभी तो जीवन भर प्रतिध्वनित होती रहती है। संक्षिप्तता श्रेष्ठ कथन की आत्मा मानी गई है।

'तिरुक्कुरल' संस्कृतनिष्ठ तमिल में नहीं बल्कि तत्कालीन लोकप्रचलित सरल तमिल भाषा में लिखा गया है इसलिये दो हजार वर्ष से इस ग्रंथ की उक्तियां लोकजीवन में प्रयुक्त होती आ रही हैं। अनपढ़ और ग्रामीण तमिल भाषी भी इसके कथनों और छंदों का सामान्य बोलचाल में प्रयोग करते हैं। तमिलनाडु में बहुत से लोग इसे पंचमवेद, तमिलवेद और ईश्वरीय ग्रंथ मानते हैं। सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों में यह ग्रंथ समान रूप से लोकप्रिय है और इसके रचनाकार तिरुवल्लुवर को वे अपने-अपने धर्म या मत का व्यक्ति मानते हैं। वैसे भी ग्रंथ के रचनाकार ने कहीं भी अपने नाम, जाति और निवास स्थान का उल्लेख नहीं किया है और कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि वह कौन थे और कहाँ रहते थे। दुनिया की लगभग अस्सी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। अंग्रेजी में इसके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। प्रमुख अनुवादक हैं चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, रेवरेंड पोप और वी. वी. एस. अय्यर।

तिरुक्कुरल में व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के विविध पक्षों पर विचार किया गया है। यह एक मुक्त काव्य है लेकिन इसमें सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाले क्रमबद्ध कुरल या कुरलवेणवा छंद पिरोये हुए हैं। ऊपर से यह एक नीतिश्लोक संग्रह लगता है लेकिन इसमें जीवन के विविध प्रसंगों की विडम्बनाओं और प्रकट के भीतर छिपे हुए अप्रकट रहस्यों पर पैनी

निगाह डाली गई है। ग्रंथ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से केवल तीन पुरुषार्थों पर ही चर्चा की गई है और चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को छोड़ दिया गया है। संभवत रचनाकार का उद्देश्य इसे दर्शनशास्त्र का ग्रंथ बनाना न रहा हो और इसकी विषयवस्तु इहलौकिक बनाये रखने के लिये ही 'मोक्ष' को बाहर रख दिया गया हो। यह बात इसलिये भी सही लगती है क्योंकि पूरे ग्रंथ में सैद्धान्तिक चिन्तन के बजाय जीवन के व्यावहारिक पक्ष को ही ध्यान में रखा गया है।

सबसे पहले **धर्मकांड** है जो 38 अध्यायों में लिखा गया है जिनमें 380 दोहे (या कुरल) हैं। इसके कुछ विषय हैं-- गृहस्थाश्रम, सहधर्मिणी, संतान, अतिथि सत्कार, मधुर भाषण, कृतज्ञता, क्षमा, ईर्ष्या, चुगली, परोपकार, दान, धूर्तता, भवितव्यता आदि। प्रस्तुत है कुछ कुरलों का हिन्दी अनुवाद। कृतघ्नता के लिये कहा गया है-- जो भी नर पातक करे संभव है उद्धार। पर है नहीं कृतघ्न का, संभव ही निस्तार।। (तिरुक्कुरल 1/10) मूर्ख की सम्पत्ति भी उसके कष्टों को बढ़ाती ही है :- शिक्षित के दारिद्र्य से करती अधिक विपत्ति। मूर्ख जनों के पास जो, जमी हुई सम्पत्ति।। (तिरुक्कुरल 40/8) अध्याय छह में सहधर्मिणी के लिये कहा गया है :- "जो स्त्री दूसरे देवताओं की पूजा नहीं करती किंतु सुबह उठते ही पतिदेव की पूजा करती है, तो जल से भरे हुए बादल भी उसका कहना मानते हैं।" अध्याय सात में संतान के विषय में कहा गया है :- "वंशी की ध्वनि प्यारी है, सितार का स्वर मीठा है" ऐसा वही लोग कहते हैं जिन्होंने बच्चों की तोतली बोली नहीं सुनी है।" अच्छे पिता के लिये कहा गया है :-- "पुत्र के प्रति पिता का कर्तव्य यही है कि यह पुत्र को सभा की प्रथम पंक्ति में बैठने योग्य बना दे।"(7/7)। जीवन में प्रेम के महत्व पर कहा गया है-- "प्रेम का आनन्द लेने के लिये ही एक बार फिर यह स्वतंत्र आत्मा अस्थि-पिंजर में कैद होने को राजी हुआ है।" (8/3)। "प्रेम ही मनुष्य का प्राण है, जिसमें प्रेम नहीं वह केवल मांस में लिपटी हुई हड्डियों का ढेर है। (8/10)। यह प्रेम ही अतिथि-सत्कार का प्राण है। देखिए ग्रंथकार अध्याय नौ में क्या कहते हैं :-- "जब घर में अतिथि हो, तब चाहे अमृत ही क्यों न हो, अकेले नहीं पीना चाहिए," "पारिजात का वृक्ष सूंघने से मुरझा जाता है, पर अतिथि का मन तोड़ने के लिये एक दृष्टि (आंख फेर लेना या उदासीन निगाह) ही पर्याप्त है।" (9/10)। ग्रंथकार के अनुसार किसी पर एहसान करने के लिये दिखाई गई दया व्यापार है दया नहीं है-- "आभारी बनाने की इच्छा से रहित होकर जो दया दिखाई जाती है, स्वर्ग और पृथ्वी दोनों मिलकर भी उसका बदला नहीं चुका सकते।" इसी प्रकार क्षमाभाव की तप पर श्रेष्ठता बताते हुए कहते हैं-- "उपवास और तप करने वाले निस्संदेह महान है, पर उनका स्थान उन लोगों के, पश्चात् ही है, जो अपनी निंदा करने वालों को क्षमा कर देते हैं।" (16/10)। "ईर्ष्या करने वाले के पास लक्ष्मी नहीं रह सकती, वह उसको अपनी बड़ी बहिन दरिद्रता की देखरेख में छोड़ कर चली जाती है।" (17/7)

धर्मकांड के पश्चात् तिरुक्कुरल में दूसरा अध्याय हैः- **'अर्थकांड'**। अर्थ से तात्पर्य केवल धन अथवा वित्त नहीं है। इसमें मानव के वे सभी क्रियाकलाप शामिल हैं जो व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पक्षों को समृद्ध बनाने के लिये किये जाते हैं। समस्त इहलौकिक कार्य अर्थ में निहित हैं। इसमें शत्रु-मित्र, साम, दाम, दण्ड, भेद, शिक्षा, पुरुष-परीक्षा, न्याय शासन, गुप्तचर व्यवस्था, प्रशासन, दुर्ग सुरक्षा, वेश्या, जुआबाजी, वाकपटुता, कृषि, धनार्जन, कर प्रणाली आदि समस्त जीवन व्यवहारों का विवेचन किया जाता है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' भी इसीलिये आधुनिक अर्थ में अर्थशास्त्र नहीं है क्योंकि उसके विषय हैं :-गुप्तचरों की नियुक्ति, पड़ोसी राज्यों से युद्ध-संधि, मंत्री अमात्यों की परीक्षा, दुर्ग और सैन्य संचालन, सत्ता संघर्ष और राजमहलों के षड्यंत्र इत्यादि। 'तिरुक्कुरल' के अर्थकांड में 70

अध्याय हैं और कुल 700 श्लोक हैं। इस ग्रंथ के सभी अध्यायों में दस-दस श्लोक (कुरल) हैं। पाठकों द्वारा रसास्वादन करने के लिये नीचे कुछ कुरलों की बानगी प्रस्तुत है, यद्यपि भाषान्तर के कारण उनका सौन्दर्य कम हो गया है। दूसरी बात यह है कि पद्य का सौष्ठव, गद्य बना देने से खो जाता है और उसकी सारी भंगिमा और तेवर समाप्त होकर वह एक नीरस सपाट कथन मात्र बन जाता है। तथापि पाठक प्रेरक नीति का आनंद लें।

शिक्षा पर बात करते हुए ग्रंथकार कहते हैं-- मानव की जीती जागती दो आंखे हैं, एक को 'अंक' कहते हैं दूसरे को 'अक्षर' (2-40-2)। शिक्षित ही आंख वाले हैं। अशिक्षितों के सिर में तो केवल दो गढ़े होते हैं। (2-40-3)। विद्वान जहाँ कहीं भी जाता है, अपने साथ आनन्द ले जाता है। लेकिन जब यह विदा होता है तो पीछे दुःख छोड़ जाता है (2-40-4)। उस अनपढ़ आदमी को देखो जो प्रभावशाली वक्ता बनने की वांछा कर रहा है। उसकी वांछा वैसी ही है जैसे बिना उरोज वाली स्त्री, पुरुषों को आकर्षित करना चाहे (2-41-2)। "जो राजा ऐसे वृद्धों से मंत्रणा नहीं करता जो समय पर उसे झिड़क भी सकें, तो वह शत्रुओं के न होने पर भी नष्ट हो जाएगा।" (2-45-8)। "बाहर से ऐसा लगता है कि मनुष्य का स्वभाव उसके मन में रहता है लेकिन वास्तव में स्वभाव उस गोष्ठी में रहता है जिसमें वह व्यक्ति संगति करता है।" हद से अधिक रख दिये जाने पर तो मोरपंख तक भी गाड़ी की धुरी को तोड़ देते हैं। (2-48-5)। जब समय प्रतिकूल हो तो बगुले की तरह अकर्मण्यता का बहाना करो, लेकिन जब समय अनुकूल हो तो बगुले की तरह ही तेजी से झपट पड़ो। (2-48-10)। राजा की न्याय व्यवस्था और निष्पक्षता पर विचार करते हुए कहा गया है- "राजा की विजय का कारण उसका भाला नहीं होता बल्कि वह राजदंड है जो हमेशा सीधा रहता है, न कभी इसकी तरफ झुकता है न उसकी तरफ।" (2-55-6)। संकट में धैर्य रखने की सलाह देते हुए ग्रंथ कहता है--- "आपत्ति का सामना करने के लिये मुस्कान से बढ़ कर कोई शस्त्र नहीं है।" सभा में वाक्चातुर्य के महत्व पर कहते हैं-- "श्रोताओं के सामने आने से भयभीत होने वाले व्यक्ति का ज्ञान उसी प्रकार है जैसे युद्धक्षेत्र में कायर के हाथ में तलवार।" (2-73-7)। "यदि दरिद्र अपनी निर्धनता से पिंड छुड़ाने के लिये परिश्रम नहीं करते तो वे केवल दूसरों के दाल-भात की मृत्यु के ही कारण बनते हैं।" (2-105)।

'तिरुक्कुरल' में विशेषकर उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का प्रभूत प्रयोग सहजता से किया गया है। ये सभी अलंकार दृष्टांत देने के लिए उपयोगी होते हैं। कवि का उद्देश्य एक प्रकार की बनावटी आलंकारिक छटा उत्पन्न करना नहीं है। भावप्रवणता और कथन सौन्दर्य के लिए स्वाभाविक रूप से अलंकार आ ही जाते हैं। यही अच्छे काव्य का लक्षण है कि अनायास और सहज ही अलंकार प्रस्तुत हो जाएं।

तीसरे खण्ड **'काम कांड'** में 25 अध्याय हैं और 250 कुरल (पद्य) हैं। कुरल-कर्ता ने कामभाव को मर्यादित और संयमित रखने के लिए ही यह खण्ड लिखा होगा किंतु भारतीय भाषाओं के संस्करणों में यह खण्ड प्राय शामिल नहीं किया गया और इस प्रकार अधिकांश भारतीय पाठकों के लिए यह अनुपलब्ध बना हुआ है। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित नवीनतम हिन्दी संस्करण में भी इसे सम्मिलित नहीं किया गया है और सिर्फ यह कह दिया गया है-- "मनुष्य विषय-भोगों की दक्षता बिना किसी शिक्षण संस्था में शिक्षा पाये ही प्राप्त कर लेते हैं, अतः नैतिकता के तकाजे से इस प्रकरण को अनुचित कथन वाला न मानते हुए भी इसमें स्थान नहीं दिया है एवं प्राचीन संस्करणों की परम्परा का ही पालन किया है।" जैसा कि प्रारम्भ में ही लिखा जा चुका है 'मोक्ष कांड' या तो कभी लिखा ही नहीं गया या फिर प्राचीन समय से ही वह अनुपलब्ध हो गया।

'तिरुक्कुरल' की तरह ही एक अन्य प्राचीन तमिल नीति-ग्रंथ है 'नलदियार'। यह भी धर्म, अर्थ और काम नामक तीन पुरुषार्थों पर ही लिखा गया है। दोनों की शैली एक जैसी ही है। दोनों ही शास्त्रीय तमिल भाषा में नहीं बल्कि जन भाषा तमिल में ही लिखे गये हैं। जनसाधारण की भाषा में लिखे होने के कारण इनके कथन आम बोलचाल की कहावतों और मुहावरों के रूप में प्रयोग होते रहे हैं। इसी कारण इन्हें तमिल भाषा में 'वेल्लारवेदम्' कहा जाता है जिसका अर्थ है-- किसानों का वेद। 'नलदियार' को नालदी नामक तमिल छंद में लिखा गया है और तिरुक्कुरल कुरल छंद में है।

तिरुक्कुरल की लोकप्रियता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसके लेखक तिरुवल्लुवर को जैनियों ने जैन धर्मावलम्बी बताया है और तमिलनाडु के ईसाई उनके ईसाई होने का दावा करते हैं। शैव और वैष्णव उन्हें जुलाहा जाति का मानते हैं, जैन इन्हें क्षत्रिय कुल का मानते हैं। सभी सम्प्रदायों के लोगों ने अपने अपने दावों को सही सिद्ध करने के लिए कथायें और गाथाएं गढ़ ली हैं। हम यहाँ इस प्रकार के वाद-प्रतिवाद में नहीं पड़ना चाहते लेकिन इतना अवश्य है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार कांड इस नीतिग्रंथ को ईसाई तथा जैन सम्प्रदायों की सीमा से बाहर कर देते हैं। नीति कथन वैसे भी मत-मतान्तरों के छोटे-छोटे घेरों से बाहर ही होते हैं क्योंकि उनका विषय होता है- शाश्वत मानवता।

सहायक स्रोत

1. The best known classical Tamil work is the 'Kural' (Aphoristic stanzas) by the weaver Thiruvalluvar, who lived sometime between the first and fifth centeries of the Chistain Era. - W Narmau Brown। **2.** It is difficult to judge from the tenor of his 'Kural' to what sect he belonged for he has entirely avoiced in the work everything that savours of sectarianism in order to harmonize the suffrages of all the sects.- Simon Casie Chetty। **3.** No Tamil work can ever approach the purity of the 'Kural'. It is a standing repute to modern Tamil. - Rev John Lazares। **4.** The contents of the work represent the general aphoristic wisdom of India and donot belong to any particular section.- John Murdoch.। **5.** Thiruvalluvar the author of 'Kural' addresses neither the king, sucbects, nor priest, but man. He doesnot address man either as the lawgiver or prophet but as well wisher, teacher Alexauder platigorsky.। **6.** 'The Kural' has been dated variously from 300 BCE to 5th century CE. It was the last work of the third Sangam. Historian KK Pillay assigned it to the early first century and S. Vaiyapuri Pillai assigned the work to 650 CE. - Srinivasan Narayanaswami.।

(सेवानिवृत्त उपाचार्य एवं अध्यक्ष
अंग्रेजी विभाग
राजकीय पी.जी. महाविद्यालय टोंक)
संप्रति-संपादक नवमानव
54/8 मानसरोवर जयपुर
मो. - 9414646696

समकालीन हिन्दी कविता में सामाजिक-धार्मिक अन्तर्विरोध

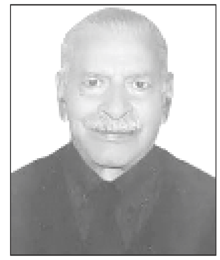

डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय

समकालीन हिन्दी कविता में सामाजिक अन्तर्विरोधों की अनुभूति का प्रस्तुतीकरण बड़ा ही मार्मिक है। सामाजिक अन्तर्विरोधों की तीव्र भर्त्सना, धार्मिक आस्थाओं एवं अन्धविश्वासों का खण्डन, धर्म एवं सम्प्रदाय की घृणित अभिव्यक्ति, मानवताहीन समाज की कटु निन्दा, सर्वहारा वर्ग के प्रति करुणा एवं सहानुभूति, अभिजात्य वर्ग के प्रति तीव्र आक्रोश, मूल्यों में गिरावट के प्रति रोष, समाजवादी मानवता की खोज, नारी जाति के प्रति संवेदनात्मक नूतन दृष्टिकोण एवं नवयुग में सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा आदि की प्रस्तुति भी विलक्षण है। समकालीन हिन्दी कविता में पूँजीवाद का तीव्र विरोध किया गया है क्योंकि गरीब गरीब होता गया और धनी धनवान होता गया है। साम्राज्यवाद हावी हो गया। समाज में निरन्तर वर्गवाद की खाई गहरी और चौड़ी होती गयी तथा सामाजिक अन्तर्विरोध की भावना क्रमशः प्रबल होती गयी। हिन्दी कवियों ने सामाजिक विषमताओं, विसंगतियों एवं विद्रूपताओं को अपने काव्य का विषय बनाया तथा उसकी तीव्र एवं कटु शब्दों में भर्त्सना की है। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकारों को दृष्टिगत रखते हुए कवियों ने अपनी काव्य--सर्जना की है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक अन्तर्विरोधों का उजागर होना सहज ही सम्भव हो सका है।

वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त द्वारा शोषण प्रक्रिया को प्रदर्शित किया गया है। सामाजिक हित एवं सामूहिक हित पर विशेष बल दिया गया। धन और धरती बंटकर रहेगी, भूखी जनता चुप न रहेगी का नारा समाज में प्रचारित किया गया। कवियों ने सामाजिक परिवेश में इन्कलाब जिन्दाबाद के नारे को जनमानस पर उतारने का सार्थक प्रयास किया है। परिवर्तन ही जीवन है की वैचारिक क्रान्ति का आविर्भाव भी देखा गया है। यह सामाजिक चेतना वास्तव में मानव की व्यापक एवं विशाल संभावनाओं के विकास में अहम भूमिका निर्वहन करने में सक्षम रही है। भविष्य के प्रति गहरी आस्था और विश्वास का भाव जागरित हुआ है। यही सामाजिक चेतना आम जनता की जटिल सामाजिक शोषित-पीड़ित प्रक्रिया को ध्वस्त करने में भी सफल रही है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है और सांस्कृतिक महत्ता भी। समाजवादी समीक्षक शिवदान सिंह ने तो व्यष्टि और समष्टि मूलक समस्याओं के सामाधान के लिए सामाजिक चेतना की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्हीं के शब्दों में, 'हम लेखक विप्लवकारी घटनाओं और विश्वव्यापी संघर्ष और परिवर्तन के द्रष्टा हैं। ह्रास और प्रगति की प्रक्रियाएँ तेजी से चालू

हैं। जीवन के हर क्षेत्र में मानव-सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे में आजादी व जनवाद और शान्ति, यदि हमारी जीवन दृष्टि में सबसे मूल्यवान वस्तुएँ नही रहीं तो हमारी सहानुभूतियाँ व्यक्तिवाद या अबुद्धिवाद में गलत मार्गों पर भटक जायेंगी।'

समाजवादी कवि मुक्तिबोध के काव्य में बाह्य और आभ्यान्तर दोनों स्तरों पर सामाजिक अन्तर्विरोध की धारा प्रवाहित हुई है। यही कारण है कि उन्हें गहन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों और तीव्र सामाजिक अनुभवों का कवि कहा जाता है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में प्रगतिवादी कवि भीतरी और बाहरी संघर्ष से चिन्तित दिखायी देता है तथा सर्वत्र अन्धकारमय सामाजिक वातावरण एवं परिवेश को देखकर कह उठता है : *भयानक थर-थर है ग्लानि कर सागर में। मुझे गश आता है। विलक्षण स्पर्शों की अपरिचित पीड़ा में । परिप्रेक्ष्य गहरा हो । तिमिर दृश्य आता है। ठनकती रहती हैं। आभ्यान्तर ग्रन्थियाँ, वहिः समस्याएँ।*

समाकालीन हिन्दी कवियों ने समाज में शहरीकरण की प्रवृत्ति को भी रेखांकित किया है। रोजी-रोटी की तलाश में बहुत बड़े पैमाने पर लोग गाँवों से पलायन करने लगे तथा नगरों में आकर बसने लगे। शहरों-नगरों का तेजी से विस्तार हुआ तथा जन-सुविधाओं की समस्या और अधिक विकराल हो गयी। लोगों की आवासीय समस्या के साथ-साथ अन्य समस्याओं में भी वृद्धि हुई तथा सुनहले स्वप्न खण्डित हो गए। प्रदूषित वातावरण, बेरोजगारी, जल की समस्या आदि ने जीवन स्तर को बुरी तरह प्रभावित किया तथा संयुक्त परिवारों को बिखरने के लिए बाध्य कर दिया। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि "नगरों की जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही है, उस तेजी से शिक्षा, भोजन, आवास, यातायात, परिवहन, सफाई, प्रशासन आदि तथा अन्य साधारण सुख-सुविधाएं नहीं दी जा सकी हैं। महानगरों की हालत तो और भी अधिक सोचनीय है।' स्पष्ट है कि समकालीन हिन्दी कवियों ने सामाजिक अन्तर्विरोधों की अनुभूति के अन्तर्गत जीवन में धर्म, जाति, भाषावाद, प्रदेशवाद, वेषभूषा, रहन-सहन, खान-पान आदि स्तरों को रेखांकित किया है। सामाजिक सम्बन्धों में तेजी से विघटन हुआ है, परिवेश परिवर्तित हुआ है, ग्राम-नगर का अन्तर बढ़ा है। सामाजिक सोच में परिवर्तन एवं विखण्डन हुआ है। प्रेम, सहयोग, ममता, भाईचारा, सहानुभूति, मैत्री, करुणा, दया आदि सामाजिक मूल्यों का क्षरण और हरण हुआ है। सामाजिक परिवर्तन की भावना ने विघटित एवं विखण्डित समाज को छिन्न-भिन्न करने के लिए विवश कर दिया। अलीगढ़, मेरठ, मुरादाबाद, वाराणसी, गोधरा आदि महानगरों के साम्प्रदायिक दंगे, भाषिक आन्दोलन, प्रान्तीयता, क्षेत्रीयता, पंजाब समस्या, कश्मीर समस्या, नागालैण्ड की समस्या, असम समस्या, मन्दिर-मस्जिद विवाद आदि सामाजिक समस्याओं ने सामाजिक अन्तर्विरोध की भावना को और अधिक तीव्र बना दिया। गिरिजाकुमार माथुर ने आर्थिक सामाजिक संकट, बढ़ती बेरोजगारी, गरीबी तथा योजनाओं की अपूर्णता पर चिन्ता व्यक्त की है तथा स्पष्ट किया है कि 'युद्धों की विफल परिणति, छात्र असन्तोष एवं आन्दोलन, हिंसात्मक कार्यवाहियां और मध्यवर्गीय विपन्नता की तीव्र प्रतिक्रिया के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।' अतएव सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रामक विद्रोही स्वर कवियों ने ठीक ही ध्वनित किया है जिसमें मानवीय मूल्यों, लोकतान्त्रिक उपलब्धियों एवं सामाजिक परिलब्धियों की बिगड़ती हुई स्थिति और परिस्थिति का भी आकलन किया गया है। धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, रामकरन चौधरी, मलयज, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, अशोक वाजपेयी, रामदरश मिश्र, राजीव सक्सेना, विष्णु खरे, मणिमधुकर, कैलाश वाजपेयी, विष्णु सक्सेना आदि ने समकालीन काव्य में सामाजिक अन्तर्विरोधों को पूरे जोश के साथ धारदार शब्दावली में अभिव्यजित किया है। डॉ. अनन्तराम मिश्र 'अनंत' ने कहा है -

अपनी पूरी प्रगति पर है यथार्थ-संसार/ आदर्शों से आ रही मिरचे की सी झार /युग बहाव में बह गए आस्थावान कगार /पूछो डोली को किधर ले जा रहे कहार। सामाजिक अन्तर्विरोध की भावधारा में बहनेवाले कवियों में डॉ. अनिल चौधरी भी पीछे नहीं हैं जिन्होंने हिंसा, अत्याचार को सामाजिक परिवेश में रेखांकित किया है क्योंकि; *नगर गाँव-परिवार में हिंसा अत्याचार/ मानव-पीड़ा से भरा रोज मिले अखबार /बाल सुमन नित बेचते, बोल-बोल अखबार/कैसी ये मजबूरियाँ, कैसा यह व्यापार।* सोम ठाकुर ने 'कड़वे सत्य कहे' जिसमें अभिजात्य वर्ग की सुख-सुविधा को इंगित किया गया है तथा गरीब तो दुःख-दर्द सहने के लिए बने हैं क्योंकि; *अपनों ने अपनों में ही भेद किया /जिस पत्तल में खाया है, छेद किया।* समाज और परिवार शीर्षक से ए.बी. सिंह ने अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है जिसमे टूटते हुए परिवार पर चिन्ता व्यक्त की गयी है : *सब प्रकार से देश में, टूट रहे परिवार /हवा सभी उल्टी बड़े मन में भरा विकार।*

विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' ने तो कटुक सतसई के माध्यम से सामाजिक अन्तर्विरोध की अनुभूति को जागरित किया है तथा व्यंग्यात्मक बाणों के द्वारा समाज में फैली अराजकता को बेधने का काम किया है। *शहर की गलियों में फिरता है कैसा मारा-मारा देख /लाज, शर्म और वफा वायदे ये सब गाँव की बातें हैं/ महानगर में जिस्मों के सौदों का खुला नजारा देख।* सामाजिक अन्तर्विरोध की अनुभूति की चर्चा करने में चन्द्रसेन 'विराट' भी पीछे नहीं हैं क्योंकि प्रातः कुरुक्षेत्र को जगानेवाला शौर्यवीर शाम को बाँसुरी उठाने में संकोच नहीं करता। उसकी सच्ची अनुभूति 'कुछ सपने कुछ सच' में अभिव्यक्त हुई है। देखें ये पंक्तियों : *प्रातः कुरुक्षेत्र को जगाता हूँ, दिन में अर्जुन का रथ चलाता हूँ / शाम को शंख-चक्र रखकर मैं, हाथ में बाँसुरी उठाता हूँ।* नागार्जुन ने सामाजिक अन्तर्विरोध की धारा प्रवाहित कर पाठकों को न केवल रसानुभूति करायी है बल्कि नव्य चिन्तन-मनन के लिए भी बाध्य कर दिया है क्योंकि 'नदियाँ बदला ले ही लेंगी' : *जीर्ण-शीर्ण है संविधान यह जैसा अपना पुरुष पुरातन/नित्य नवीना प्रकृति तुम्हारी, देती अध्यादेश दनादन।*

सामाजिक अन्तर्विरोध की अनुभूति को रामकमल चौधरी के काव्य में रेखांकित करते हुए विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने 'समकालीन हिन्दी कविता' में स्पष्ट उल्लेख किया है कि 'रामकमल क्यों भागना चाहता है इस नागरिक समाज से, संगठन और संस्थाओं से शासनतन्त्र और लोकतन्त्र से? बहुत स्पष्ट है कि वह जो स्वाधीन स्वेच्छात्मक जीवन बिताना चाहता है, वह इनके बीच सम्भव नहीं है। इसलिए वह बाह्य यथार्थ की, आज की विडम्बनापूर्ण स्थितियों की खुलकर भर्त्सना करता है। वह इस क्रूर विकृत दुनिया की कुटिल चालों का पर्दाफाश करता है।' स्पष्ट है कि सामाजिक अन्तर्विरोधों की तीव्र अनुभूति समकालीन हिन्दी कवियों को है जिसकी अभिव्यंजना उनके काव्य में हुई है।

धार्मिक आस्थाओं एवं अन्धविश्वासों का विरोध

समकालीन हिन्दी कविता में सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत धार्मिक आस्थाओं, मान्यताओं एवं अन्धविश्वासों का विरोध पाया गया है क्योंकि काव्य में पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा बौद्धिकता को विशेष महत्त्व दिया गया। बौद्धिकता की मौलिकता चमत्कारिक सूत्रों के रूप में अभिव्यक्त हुई है। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने कहा है कि "अनेक कविताएँ या तो बौद्धिकता से ग्रस्त हैं अथवा कुण्ठा पराजय, निराशा आदि से आच्छन्न हैं। इसी ने वस्तुतत्त्व में व्यापकता नहीं आने दी है।" इस युग में परम्परानुमोदन की प्रवृत्ति नहीं है। यही कारण है कि कवियों ने धार्मिक आस्थाओं को दरकिनार कर अन्धविश्वासों के प्रति अनास्था की भावना जागरित की है। अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि तथा अस्तित्व बोध की भाव सम्पदा ने इस युग के काव्य को प्रभावित किया है। इस तथ्य और कथ्य को डॉ. हरिचरण शर्मा ने 'नई कविता का मूल्यांकनः परम्परा और प्रगति'

की भूमिका में स्वीकार किया है क्योंकि धर्म प्रेरित विश्वास का साया हट जाने से मनुष्य में शंका, निराशा और उच्छृंखलता तो आयी ही है, भोगवादी दृष्टिकोण भी विकसने में पर्याप्त बल मिला है।"

धार्मिक आस्थाओं और अंधविश्वासों का विरोध दुष्यन्तकुमार की गजलों में भी देखा गया है। कुँवर नारायण साही, देवराज, प्रभाकर माचवे, नरेश मेहता, राजेन्द्रकिशोर, भारतभूषण अग्रवाल, रामदरश मिश्र आदि की कविताओं में भी इसी प्रकार की भावानुभूति की अभिव्यंजना है। मानव की तीव्र बौद्धिकता ने ईश्वरीय सत्ता के प्रति निषेधात्मक वृत्ति को उजागर किया है। ब्रह्म को भूल जाने की बात देवराज कहते हैं वहीं प्रभाकर माचवे पत्थर पूजना नास्तिकता की धुन समझते हैं। नरेश मेहता ईश्वरीय शक्ति में आस्था और विश्वास नहीं रखते। भारतभूषण ने तो 'टूटा सपना' कविता में ईश्वर को पूरी तरह नकारते हुए धार्मिक आस्थाओं और विश्वासों का विरोध किया है। 'देहान्त से हटकर' में कैलाश वाजपेयी ने अपनी अनास्था प्रकट की है द्रष्टव्य है: *ईश्वर तो नहीं ही है/ सहा नहीं जाता अन्याय अगर/ तब यह बदबू भरी/माँस की कोठरी छोड़ दो।*

भारतभूषण पूजा-अर्चना के विरोधी हैं। वैयक्तिक ज्ञान एवं स्थिति को ही संसार-मुक्ति का वे साधन मानते हैं तथा देवी-देवताओं के प्रति समर्पण अर्पण को वे मानवीय कमजोरी के रूप में स्वीकारते हैं। 'ओ, अप्रस्तुत मन' में उन्होंने अपनी अनास्था एवं अविश्वास का परिचय दिया है जबकि रणजीत के काव्य में ईश्वर को मृतक का दर्जा प्रदान किया गया है। साक्ष्य हैं ये पंक्तियाँ : *मर गया ईश्वर, विषमता का सहायक मर गया/आदमी के हाथ में ही आदमी का भाग्य देकर/ विश्व का दैवी विधायक मर गया/मर गया ईश्वर।*

समकालीन हिन्दी कविता में धार्मिक आस्थाओं और अन्धविश्वासों का विरोध करके कवियों ने समसामयिक परिप्रेक्ष्य में युगधर्म का निर्वहन किया है। युगीन परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, मान्यताओं एवं परम्पराओं का अन्धानुकरण वैज्ञानिक कम्प्यूटराइज्ड प्रणाली में न तो सम्भव है और न समीचीन। यही कारण है कि व्यक्ति टूटा हुआ है, रुग्णावस्था में है, उसका दम घुट रहा है तथा संस्कारों के प्रति जागरूक नहीं है। सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं में घुटते हुए रुग्ण मानव में अनास्था एवं वाक्पटुता का भाव आना स्वाभाविक ही है जिसे हरीश भदानी, रामदेव, मालीराम शर्मा आदि की कविताओं में देखा गया है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'थरमस' कविता मानवीय लघुता के प्रति आस्था प्रकट करती है। स्पष्ट है कि 'नया कवि मूल्यों को विवेक पर कसता है तथा अनिश्चयात्मक मूल्यों के टूटने पर भी सशक्त मूल्यों के प्रति आस्थावान बना रहता है। यह स्पष्ट है कि नये कवियों ने घातक मूल्यों के प्रति ही अनास्था का भाव प्रकट किया है, जीवन्त मूल्यों के प्रति नहीं।'

धार्मिक अनास्था एवं अन्धविश्वास को विवेचित करते हुए डॉ सुरेशचन्द्र गुप्त ने धर्म, ईश्वर, आध्यात्मिकता आदि का निषेध साम्प्रतिक कविता में पाया है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में "मानव की परिपूर्णता में धर्म बाधक है। परलोक की सुन्दर कल्पना का धर्म अपनी आज की जिम्मेदारियों से बरी हो जाता है। धर्म आज स्थिर रूढ़ियों और स्थिर स्वार्थों का समर्थक है।" भगवतीचरण वर्मा ने कहा है कि "मैं बुद्धिवादी हूँ। मेरा देवता ज्ञान है और इस देवता के अलावा मुझे किसी देवता पर विश्वास नहीं है।" परिवर्तन सृष्टि का धर्म है, पर रूढ़ि-रीतियाँ स्थिरता और जड़ता का पोषण करती हैं। यूँ विश्व का हर देश और समाज किसी न किसी प्रकार के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और कुसंस्कारों में बँधा है। आध्यात्मिकता और आत्मा-परमात्मावाद ने जड़ता, भाग्यवाद, नियतिवाद आदि से मनुष्यों को परंपरा प्रेमी और अकर्मण्य बना दिया है।

धार्मिक आस्थाओं और अन्धविश्वासों का विरोध इस युग की काव्य प्रवृत्ति बन गयी है। 'समकालीन स्थिति यह है कि सांस्कृतिक दृष्टि से अब नैतिक और

परम्परागत आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह गया। पुरानी पीढ़ी के उपदेश और व्याख्यान पाखण्ड माने जाते हैं और घोटाले पर घोटाला, हड़ताल, घेराव, हत्याएँ, मारपीट, दंगे, बलात्कार, उपद्रव हमारे सामान्य जीवन का अंग बन गये हैं। भूखी पीढ़ी इसी प्रजातान्त्रिक युग की उपज है। प्रगतिशील कवि में क्रान्ति की पुकार थी, नई कविता की युवा पीढ़ी में दिशाहीन क्रोध, खीझ की भावना है जो सांस्कृतिक मूल्यहीनता की सीधी अभिव्यक्ति है।" इन कविताओं में रूढ़िवाद और परम्परावाद की अस्वीकृति है। डॉ. ब्रजेन्द्र अवस्थी ने एक ओर दैन्य, गरीबी, मजबूरी, लाचारी, दुराचार आदि के घिनौने चित्र आक्रोश के साथ व्यक्त किए हैं और दूसरी ओर उस यथार्थ को भी अभिव्यक्ति दी है जिसमें प्रगति, उत्साह, त्याग, बलिदान आदि को मूर्तिमत्त किया गया है।" मुक्तिबोध ने ईश्वर के प्रति अनास्था का स्वर ध्वनित किया है। साक्ष्य हैं प्रस्तुत पंक्तियाँ : *दार्शनिक मर्मी अब। कोई सरगर्मी अब/छू नहीं पाती है/दीनहीन छवि क्षीण और व्याकुल ईश्वर को /आज सड़क पर हाथ पसारे मैंने पाया।*

डॉ. महावीर वत्स ने कहा है कि 'ईश्वर दीनहीन अवस्था में सड़कों पर भिखारी की तरह घूम रहा है। ईश्वरीय प्रभा मण्डल और उसकी असीम शक्तिमत्ता का मिथ यहाँ टूट गया है। कवि ने उसे सामान्य मनुष्य जैसी दीन-हीन अवस्था में चित्रित किया है। उनके दैनिक जीवन में देवी-देवताओं का कोई स्थान नहीं रह गया है।' यही नहीं मुक्तिबोध ने भी 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में इसी धर्मान्धता और अन्धविश्वास की अनुभूति की है जिसकी साक्ष्य हैं ये पंक्तियाँ : *किस अबूझ भाषा में/देवी देवता आपस में बातचीत करते हैं।*

समकालीन कविता में धार्मिकता की भावना आहत हुई है, अन्धविश्वासों के प्रति लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण देखा गया है। इस युग के काव्य में मानवीय संकटों में घुटन, टूटन, निराशा, कुण्ठा, अवसाद, वेदना, अविश्वास, निष्क्रियता, बाह्यता, विवशता, मजबूरी, लाचारी आदि की अभिव्यक्ति हुई है। वैज्ञानिक औद्योगिक प्रगति, यांत्रिक सभ्यता और संस्कृति के परिपार्श्व में, पूँजीवाद के व्यापक प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप आम जनता में असुरक्षा, आतंक, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, अन्याय, अत्याचार, अनाचार, कदाचार, दुराचार, पापाचार आदि की प्रवृत्तियाँ वृत्तियाँ के रूप में उभरी हैं जिसकी अभिव्यंजना समकालीन काव्य में हुई है। 'परिणामस्वरूप व्यक्ति अमानवीय जड़ता का शिकार होता गया है। नया कवि चेतना के धरातल पर सामाजिक वर्जनाओं से जूझता है, जिससे परिवेश के प्रति उसके दायित्वबोध का अनुमान होता है। कहीं-कहीं नया कवि संकटग्रस्त स्थितियों के समक्ष बेजान-सा प्रतीत होता है।' इस प्रकार संघर्षप्रिय कवियों ने आत्मोपलब्धि को ही स्वीकारा है किसी धर्म या ईश्वर को उसकी देन के रूप में स्वीकृति नहीं दी गयी है। केदारनाथ सिंह ने तो यहाँ तक कहा है कि - *मैं नहीं हूँ मंत्र द्रष्टा/पर खुली संवेदना से/दिशाओं को सूंघकर/पहिचान लेता हूँ।*

धर्म-सम्प्रदाय की घृणित अभिव्यंजना

समकालीन हिन्दी कविता में धर्मान्धता की कटु आलोचना की गयी है तथा उसकी तीव्र शब्दों में भर्त्सना की गयी है। मजहबी झगड़ों से राष्ट्र को हानि हुई है। सम्प्रदायवाद से समाज वर्गों में बँट गया है। हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई की पारस्परिक सद्भाव की भावना को आघात पहुँचा है तथा समाज में विद्वेष की भावना घर कर गयी है। राष्ट्र की एकता और अखण्डता को चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। आतंकवाद की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। कश्मीर में नरसंहार, पंजाब पहले से ही आतंकवाद की चपेट में है, गुजरात का गोदरा काण्ड चर्चित रहा है। ऐसी अराजकता, आतंकवाद, सम्प्रदायिकतावाद की स्थिति परिस्थिति में कवियों ने साम्प्रदायिक सद्भाव की वाणी अभिव्यंजित की है। धर्म एवं सम्प्रदाय की घृणित अभिव्यंजना के अन्तर्गत साम्प्रदायिकतावाद, मूर्तिपूजा का खण्डन, अनीश्वरवाद, नास्तिकतावाद आदि का विवेचन

विश्लेषण ही प्रतिपाद्य है।

समकालीन हिन्दी कविता में भारतीयता की भावना को बल मिला है। समाजसुधार की भावना को नया रूप दिया गया तथा धार्मिकता के स्तर पर उसे निरखा-परखा गया। सांस्कृतिक एवं बौद्धिक नवजागरण के फलस्वरूप उत्थानवादी प्रवृत्ति को ऊर्जा मिली तथा ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि की स्थापना हुई थी, जिसकी चरम परिणति धर्म एवं सम्प्रदायवाद में हुई। हिन्दू धर्म को पिछड़ा हुआ मानकर ईसाई धर्म की स्वीकृति देना धार्मिक धर्मोन्माद फैलाना था। सामाजिक नवोन्मेष की भावना को आघात पहुँचा, मजहबी झगड़े बढ़ते गए, सामाजिक विकास नगरों का हुआ, दलित एवं शोषित वर्ग निम्न माना जाता रहा तथा ऊँच-नीच की खाई गहरी होती गयी जिसकी अभिव्यंजना हिन्दी कविता में हुई। नवजागरण के अन्तर्गत सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्षेत्र चुने गए। 'परिणामस्वररूप शोषण, विद्वेष, अत्याचार एवं अमानवीय कार्यों में ज्यादती आयी। पूँजीपति अथवा उद्योगपति वर्ग राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर राजनेता बनकर उपस्थित होने लगा। देश में वर्ग भेद एवं साम्प्रदायिकता की भावना में तीव्रता आयी। राष्ट्रोत्थान की सारी आशा एवं निष्ठा सिकुड़ने लगी। जाति-पाँति के भेदभाव से भारतीय एकात्मकता अनेकता में तब्दील होती गयी।'

धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर नाना प्रकार के अत्याचार किये गये हैं। मूल्यों की संक्रमणता ने सम्प्रदायवाद को बढ़ावा दिया है। धार्मिक विघटन वैश्विक स्तर पर देखा गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अर्थतन्त्र हावी हो गया है। सत्य, अहिंसा, परोपकार, ईमानदारी, मैत्री, सहानुभूति, करुणा, दया, सहयोग, सद्भाव आदि नैतिक मूल्यों में निरन्तर ह्रास हुआ है जिसको डॉ. देवराज ने 'साहित्य समीक्षा और संस्कृति' में रेखांकित किया है क्योंकि पुरानी आस्था और मूल्यों के विघटन की दृष्टि से शायद हमारा युग पुराने सब युगों से आगे है। धार्मिक सहिष्णुता की भावना लुप्त हो गयी। धर्म की आन्तरिक सच्चाइयों और मूलभूत मान्यताओं के प्रति अनादर एवं अनास्था देखी गयी। 'पुराने युगों में धर्म और दर्शन, ज्ञान के मुख्य स्रोत समझे जाते थे। आज के मनुष्य की न धर्म ग्रन्थों में आस्था रह गयी है, और न पुराने दर्शनों में। आज वे लोग जो वेद, बाईबल या अद्वैत वेदान्त जैसे दर्शन की पुरजोर दुहाई देते हैं दकियानूस और पिछड़े हुए समझे जाते हैं।' साम्प्रदायिक तनाव को कवियों ने काव्य का वर्ण्य-विषय बनाया है। विभिन्न सम्प्रदायों में हिंसात्मक झगड़ों में मरनेवालों की संख्या हर साल बढ़ती जा रही है। आपसी सहिष्णुता धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। साम्प्रदायिक सेनाएं, जैसे शिवसेना और आदम सेना संगठित होकर एक नये धार्मिक युद्ध में लगी हुई हैं जो भारत की धर्म निरपेक्षता और धार्मिक सहिष्णुता को खण्डित कर रही हैं।

वस्तुतः धर्म और सम्प्रदाय की घृणित अभिव्यंजना को डॉ. देवराज ने स्पष्टोक्ति के द्वारा पुष्ट कर दी है कि 'धर्म ग्रन्थों में बढ़ती अनास्था का सबसे खराब परिणाम यह हुआ कि आज का मनुष्य ईश्वर और परलोक के साथ-साथ नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में भी आस्था खोने लगा है।' काव्य के क्षेत्र में विडम्बनापूर्ण स्थिति यह रही है कि धर्म और सम्प्रदाय की घृणित अभिव्यक्ति के फलस्वरूप कविता के नाना प्रकारों का उल्लेख किया गया जिसमें सनातन सूर्योदयी कविता, ताजी कविता, बीट कविता, नंगी कविता, ठोस कविता, सहज कविता, श्मशानी कविता, भूखी पीढ़ी, अस्वीकृत कविता, अकविता, अतिकविता, सपाटबयानी कविता आदि शीर्षकों से कविताएँ प्रकाशित हुई। ऐसे करीब चालीस नामों का उल्लेख डॉ. जगदीश गुप्त ने किया है। धार्मिक उन्मादों, तनावों एवं साम्प्रदायिक तत्त्वों को दृष्टिगत करते हुए अद्यतन परिवेश में श्रीकृष्ण तिवारी, कमलेश, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकांत देवताले, रघुवीर सहाय, कैलाश वाजपेयी, नागार्जुन, मुक्तिबोध, अशोक चक्रधर, कुँवर बेचैन आदि कवियों ने

कविताएँ लिखी हैं। धूमिल की 'पटकथा', जगूड़ी की 'अनैतिक', नागार्जुन की 'हरिजन गाथा', मुक्तिबोध की 'अन्धेरे में', कमलेश की 'जगत्कारू' आदि कविताएँ धार्मिक तनाव, सम्प्रदायवाद, समाज की विद्रूपताओं, सामाजिक विसंगतियों, धार्मिक विडम्बनाओं, राजनैतिक अराजकताओं आदि को उजागर करती हैं। मुक्तिबोध ने यथार्थवादी अंकन के माध्यम से अभिव्यंजना दी है : *यह कथा नहीं है यह सब सच है, हाँ भई/कहीं आग लग गई कहीं गोली चल गई।*

सामाजिक विसंगति, धार्मिक उन्माद, अन्याय, शोषण, उत्पीड़न, दमन आदि को देखकर इस युग में कवियों ने व्यवस्था ठीक करने हेतु लेखनी उठायी है। कैलाश वाजपेयी ने अभिव्यंजित किया है : *मैं इस व्यवस्था से बुरी तरह घबरा गया हूँ/जिन्दा रहने का दर्द/और दर्द के अहसास पर शर्मिन्दा/मैं काफी रह लिया जिन्दा।* नागार्जुन भी अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की धार्मिक धर्मोन्माद की भावना से दुःखी है क्योंकि स्वाधीनता संग्राम में सभी सम्प्रदायों की सहभागिता थी। साक्ष्य हैं उनकी ये पंक्तियाँ : *दुनिया हमसे पूछती है/बहुसंख्यक भारतीयों को क्यों नहीं मालूम/आजादी और राष्ट्रीयता का मतलब.....?*

हिन्दी कवियों ने वैयक्तिक जीवन, धार्मिक जीवन एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त संत्रास बोध, सम्प्रदाय बोध आदि की भावभिव्यंजना जोरदार शब्दों में की है क्योंकि धर्म के नाम पर घृणित कार्य किये गये हैं। व्यक्ति निराशा, आतंक, भय, आशंका, अनिश्चय, धर्मोन्माद के वातावरण में रहता हुआ घुटन-टूटन का शिकार होता जा रहा है। साम्प्रदायिक सद्भाव धार्मिक सहिष्णुता की कमी है, इससे व्यक्ति दूर हटता जा रहा है तथा लूटमार, डकैती, हत्या, बलात्कार, घृणा, अपमान, विद्वेष, नफरत जैसी प्रवृत्तियाँ समाज को खोखला कर रही हैं। अमानवीय कृत्य पर विनय का कवि चिन्तित है। *वह कहता है;/बाहुओं को ताकत/ को समेट कर रखो /फिलहाल, दूसरी चीजों पर भरोसा नहीं।*

'तलघर' में प्रमोद सिन्हा ने तीव्र आक्रोशी स्वर में घोषणा की है कि 'आदमी खूँखार हो गया है।' स्पष्ट है कि आदमी आम आदमी का प्रतिनिधित्व करता है, खास आदमी का नहीं जिसका क्रोध अभिजात्य वर्ग, सामंतशाही परम्परा, पूँजीवादी व्यवस्था तथा साम्राज्यवादी कुलीन शासनतन्त्र के विरोध में है। गिरिराजशरण अग्रवाल ने अनुभव किया है कि आदमी इस शहर में अनोखा हो गया है जिसमें चीख-चिल्लाहट, दिमागी हलचलें, धोखाधड़ी ही देखी गयी हैं। आदमी के बौने अस्तित्व पर भी चिन्ता व्यक्त की गयी है। द्वन्द्वों की खेती करना, दुविधाओं के जंगल में स्वर ध्वनित करना, हर कथा को इतिहास बनाना, हर दर्द को एहहास कहना, जिन्दगी के जंगल में भूख पसीना और धूप का समुद्र देखनेवाला रचनाकार निश्चय ही 'टूटते परिवेश' में कवि कर्म का व्यापार करना चाहता है जिसका विरोध अभिजात्य वर्ग से है। 'सन्नाटे में गूंज' इसका जीवन्त दस्तावेज है।

अभिजात्य वर्ग के प्रति आक्रोश की भावना का सीधा सम्बन्ध मार्क्सवादी दृष्टि एवं मार्क्सवादी जीवनदर्शन से है जिसका विवेचन मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत किया जाता है क्योंकि 'मार्क्सवाद मानव के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास का एक विशेष क्रम मानता है।' प्रगतिवाद, जिसका दर्शन मार्क्सवाद है, भिन्न-भिन्न युगों के साहित्यों को उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षित करता है। भिन्न-भिन्न युगों के संघर्षों और सामाजिक सम्बन्धों की रूपरेखाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, उस युग का साहित्यकार अपने युग के ही सम्बन्धों और जनविश्वासों को व्यक्त कर सकता है।' यह पद्धति जनहित तथा बहुजन हिताय की भावना एवं कामना का सन्देश देती है क्योंकि मार्क्सवादी दृष्टि मूलतः सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि है। वह किसी वस्तु का अध्ययन देश-काल के परिप्रेक्ष्य में करती है, विवेच्य में अन्तर्विरोधों का विश्लेषण करके वैज्ञानिक ढंग से प्रतिक्रिया और प्रगति के तत्वों को अलग-अलग छाँटती है।' अतएव

अभिजात्य वर्ग के प्रति तीव्र खीझ की भावना का सम्बन्ध भी मार्क्सवादी चिन्तन से है जिसकी परिणति समकालीन हिन्दी कविता में देखने को मिलती है।

जीवन व्यापी विसंगतियों और विद्रूपताओं का अन्तहीन क्रम प्रबुद्ध कवियों में अमर्ष और आक्रोश भर देता है। जीवन संघर्ष की तथ्यात्मक प्रतीति और आक्रोश की अभिव्यक्ति समकालीन कवियों की कविताओं में प्रचुरता से हुई है जिसमें धूमिल, नेमिचन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल, विजयदेव नारायण साही, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय आदि अग्रणी हैं। डॉ. ब्रजेन्द्र अवस्थी ने भी शासक और शासनतन्त्र के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए काव्यानुभूति को अभिव्यंजित करने का सार्थक प्रयास किया है जिसकी साक्ष्य हैं प्रस्तुत पंक्तियाँ : *मिला राज्य था वे मर्यादित शासन भार चलायें/जनता से कर लेकर जनता का दुःख दर्द मिटायें।*

स्पष्ट है कि शासक और शोषित में वर्ग संघर्ष की प्रबल भावना है तथा खीझ है-- शासन व्यवस्था के प्रति, शासक के प्रति अभिजात्य वर्ग के प्रति जिससे सामाजिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया है। शासन व्यवस्था चरमरा गई है। उनका मार्क्सवादी रुझान प्रस्तुत पंक्तियों में भी परिलक्षित है : *है धर्म स्थापन सहित पहला लक्ष्य दलितोद्धार का/वैसे धरा से पापियों के भय अभी बीते नहीं/वे शक्ति रीते हैं अभी षड्यंत्र से रीते नहीं।* कवि के मन में संकट से निकलने की प्रबल इच्छाशक्ति है, दृढ़ प्रतिज्ञा है तथा पावन उद्देश्य भी है। कवि वाणी की व्यंजना द्रष्टव्य है : *यों प्रकृति क्रिया से दृढ़ प्रतिज्ञ की पावन इच्छा फलती है,/संकट से पार उबरने की मनचाही शह निकलती है।* सामाजिक समरसता हेतु ही पृथ्वी पर व्यक्ति के रूप में, जीव के रूप में अवतार होता है उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कृष्णावतार और रामावतार अद्यतन परिवेश में भी प्रासंगिक हैं। यही कारण है कि 'लीला संवरण और हनुमान' शीर्षकान्तर्गत कवि ने पुण्य को परिभाषित करते हुए धर्म स्थापना का भी संकेत दिया है। साक्ष्य है प्रस्तुत पंक्तियाँ : *धर्म स्थापना को होता प्रभु अवतरण तो/पुण्य का वो प्रथम चरण कहलाता है।* इस संदर्भ में द्रष्टव्य है कि, मैं सीमाहीन ब्रह्मांड का एक अटूट अंग बन जाता हूँ। अहं ब्रह्मासि और सर्वधर्म समभाव में खोजता हूँ।

भूमण्डलीकरण एवं वैश्विक स्तर पर चलती हुई युद्ध की विनाश लीला, आणविक शस्त्रों की होड़ एवं परीक्षण तथा तीव्रगति से मूल्यों के क्षरण को रोकने हेतु समकालीन हिन्दी कवियों ने मुक्त कण्ठ से शान्ति और सद्भाव, मैत्री और सहयोग की भाव पीठिका पर वैचारिक क्रान्ति की आनुभूतिक अभिव्यंजना की है ताकि स्वाधीनता की मूल्यवता पुनःस्थापित हो सके। मानव कल्याण समाजवाद और जनतन्त्रवाद में निहित है। वैचारिक प्रतिबद्धता की यह कविता मार्क्सवादी दृष्टि से रूपायित सामाजिक यथार्थवाद की प्रतीक बन गयी है तथा शोषित-पीड़ित के प्रति करुणा और सहानुभूति की भाव सम्पदा लिए हुए संघर्ष का सन्देश आम जनता तक पहुँचाने में सतत प्रयत्नशील है। मानव अस्तित्व के संकट बोध की प्रतीति इसे है तथा युद्ध की आशंका, बढ़ता हुआ मशीनीकरण, शहरी परिवेश आदि के कारण मानव मन में भय, संत्रास, कुण्ठा, अवसाद, निराशा, अकेलापन, अस्तित्व संकट आदि की वृत्तियाँ जागरित हुई हैं जो वर्ण्य विषय के रूप में इस कविता में समायोजित हैं। संकटग्रस्त मानव अस्तित्व की यह कविता जीवन मूल्यों, आस्थाओं, विश्वासों एवं आर्थिक विषमताओं की अभिव्यक्ति बन गयी है जिसमें ईश्वर के प्रति अनास्था, आध्यात्मिकता का नकार, सामाजिक चिन्तन तथा आर्थिक सन्तुलन की आकांक्षा इस कविता के कारक सिद्ध हुए हैं। सामाजिक चेतना को मुखरित करने वाली यह कविता जीवन मूल्यों के बिखराव को रोकने में सर्वथा सक्षम है ताकि शोषण और उत्पीड़न से मानव की मुक्ति हो सके।

8/29ए, शिवपुरी, अलीगढ़ 202001 (उ.प्र.)
मो. 09897452431

नाटककार प्रेमचंद

डॉ. कंचन शर्मा

प्रेमचंद हिन्दी के ही नहीं आज दुनिया भर के साहित्य में जाना-पहचाना विशिष्ट नाम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को याद करें तो प्रेमचंद हिन्दी के ही नहीं दुनिया भर के साहित्य जगत के कथा-सम्राट हैं। साहित्य चाहे दुनिया के किसी कोने का हो; भूगोल और इतिहास भले ही अलग-अलग हों, भिन्न-भिन्न हों परन्तु संवेदनात्मकता इंसानों की एक सी ही होती है। इसी बिन्दु पर ग्लोब के किसी भी हिस्से की, किसी भी विधा की रचना क्यों न हो, कला का कोई भी स्वरूप क्यों न हो, देश-काल-वातावरण के बंधन से मुक्त होकर सहृदय के स्थायी भावों के साथ एक ही रूप में साधारणीकृत होता है और 'युद्ध और शांति' (लेव तोलस्टोय), 'माँ' (मैक्सिम गोर्की) या 'गोदान' (प्रेमचंद) जैसी रचनाएं कालजयी बन जाती हैं। प्रेमचंद की ख्याति कथा सम्राट के रूप में रही है परन्तु आज उनके उस रूप की चर्चा करूँगी जिस पर न के बराबर बात हुई है, वह है प्रेमचंद का नाटककार रूप। प्रेमचंदजी ने बाल पुस्तकें, अनुवाद, कहानियाँ, उपन्यास, लेख, संपादकीय के साथ-साथ तीन नाटक भी लिखे- संग्राम (1923), कर्बला (1924) और प्रेम की वेदी (1933)। प्रेमचंद का रचनाकाल भारतीय मुक्ति संग्राम का दौर है। प्रेमचंद पहले आर्यसमाज से प्रभावित थे। बाद की लंबी अवधि तक वे गांधी और गांधीवाद के प्रभाव-क्षेत्र में रहे। फिर 21 दिसंबर 1919 को अपने मित्र दयानारायण निगम को लिखते हैं, "अब मैं करीब-करीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ", यद्यपि प्रेमचंद की रचनाओं पर इसका प्रभाव परिलक्षित नहीं होता और प्रेमचंद के उपन्यासों पर ही नहीं उनके संपूर्ण सृजनात्मक साहित्य पर सुधारवाद-आदर्शवाद आद्योपान्त हावी रहा? यदि 'प्रेमचंद विश्वकोश' की मानें तो बोल्शेविक विचारों के कायल हुए प्रेमचंद को 17 साल हो चुके थे, इतने लंबे अर्से में तो विचारधारा बन जाती है, जबकि प्रेमचंद बोल्शेविक विचारों के प्रभावक्षेत्र में आये किन्तु प्रभाव ग्रहण नहीं कर सके। प्रभाव के इस विलय को विचारधारा या दृष्टिकोण में रूपांतरित न कर सके। उन्होंने भारतीय परंपरित सामाजिक ढांचों के प्रति यत्र-तत्र असंतोष और आक्रोश तो व्यक्त किया किन्तु उन्हें तोड़कर नई व्यवस्था रचने की हिम्मत नहीं दिखाई।

सबसे पहले बात करें प्रेमचंद के 'संग्राम' (1923) नाटक की। सबलसिंह गाँव का जमींदार, चरित्र से नेक इंसान माने जाते थे और गाँववालों-किसानों के हितैषी। उन्होंने बेगार

बंद करवा दिया था गाँव में और इसलिए भी गाँववालों के प्रिय बन गए थे। एक दिन किसान फत्तू की पत्नी राजेश्वरी को देख उनका मन डोल जाता है और वे प्रेमनिवेदन कर बैठते हैं। राजेश्वरी सबलसिंह का निवेदन ठुकरा देती है। सबलसिंह उसे पाने के बहाने ढूंढने लगता है। बेगार फिर से शुरू करवा देता है। हर घर से एक आदमी जमींदार के यहाँ बेगार खटने जाएगा। राजेश्वरी और फत्तू के घर पर कोई तीसरा व्यक्ति नहीं है। राजेश्वरी जमींदार की नीयत जानती है। गाँववालों को भी जमींदार की नीयत बिगड़ गई लगती है। अतः गाँववाले प्रत्येक घर के हिसाब से एक अधेड़ या बूढ़ी औरत को बेगार के लिए भेजने का फैसला लेते हैं। राजेश्वरी की ओर से सलोनी काकी को भेजने का निर्णय होता है। सबलसिंह की यह योजना विफल हो जाती है, तब वह फत्तू को रुपये न चुका सकने के इल्जाम में जेल भिजवा देता है। राजेश्वरी यह सब देखकर मजबूरन स्वयं सबलसिंह के पास चली जाती है। उसके बागवाले बंगले में रहती है। अंततः सबलसिंह का हृदय परिवर्तन होता है, तमाम घटनाओं के माध्यम से। उधर छद्मी सन्यासी चेतनदास जो सबलसिंह की पत्नी ज्ञानी के साथ दुष्कर्म करने का प्रयास करता है, उसका भी हृदय परिवर्तन हो जाता है और पछतावे से वह नदी में डूबकर आत्महत्या करता है। सबलसिंह की पत्नी ज्ञानी भी आत्महत्या करती है। पत्नी के मृत्योपरांत सबलसिंह वैरागी हो जाते हैं। हलधर और फत्तू गाँव के कर्ता-धर्ता बनते हैं, अपने को जमींदार समझने लगते हैं। नाटक के अंत में हरदास किसान कहता है, "एहसान किसी का नहीं है। ईश्वर की जो इच्छा होती है वही होता है।......" और ईश्वर भजन के साथ नाटक का समापन होता है।

दूसरा नाटक है 'कर्बला' (1924) जो हजरत मुहमद के नवासे हजरत हुसैन की शहादत की कहानी है। यह भी आदर्शवाद का पक्ष ही मजबूत करती है। अपने चचेरे भाई मुस्लिम से हुसैन कहते हैं, "जब कयामत के दिन वे लोग फरियादी होंगे, तो मैं नाना को क्या मुंह दिखाऊंगा। वह जब मुझसे पूछेंगे कि तुझे जान इतनी प्यारी थी कि तूने मेरे बंदों पर जुल्म होते देखे और खामोश बैठा रहा, उस वक्त मैं उन्हें क्या जवाब दूँगा।......"[3] हुसैन स्वयं तो युद्ध नहीं चाहते......"मैं जंग में पहले कदम नहीं बढ़ाना चाहता। मैं एक बार फिर सुलह की तहरीक करूँगा।...."[4] परंतु अंततः कर्बला के मैदान में सपरिवार शहादत को प्राप्त होते हैं।

तीसरा नाटक है प्रेम की वेदी (1933) जो पढ़े लिखे आधुनिक सोच रखनेवाले अंग्रेज क्रिश्चियन परिवार की लड़की जेनी और एक हिन्दू परिवार के शिक्षित स्थापित व्यवसायी पुरुष योगराज की प्रेम कहानी है। सबसे पहले यह दिखाया गया है कि जेनी विवाह नहीं करना चाहती। जेनी कहती है कि "मैं शादी नहीं करना चाहती।.... इसलिए कि मैं किसी मर्द की गुलामी पसंद नहीं करती।.... रानियाँ हैं, वह भी गुलाम हैं। मजदूरिनें हैं, वह भी गुलाम हैं। पुरुष दिल में खूब समझता है कि उसने स्त्री की वह चीज छीन ली जिसकी पूर्ति में वह जितनी खातिरदारी करे, वह थोड़ी है। वह चीज स्त्री की आजादी है।"[5] किन्तु यही जेनी अपनी सहेली उमा के पति योगराज पर अनुरक्त हो जाती है। उमा की मृत्यु के बाद योगराज के साथ रहने लगती है। योगराज विवाह करना चाहता है। धर्म की दुहाई देकर जेनी उससे विवाह नहीं करती। वह अपने घर लौट आती है। उधर जेनी के वियोग में योगराज की मृत्यु हो जाती है। जेनी को योगराज की मृत्यु का तार मिलता है जिसमें लिखा था... "yograj breathed his last with Jenny's name on his lips to the last moment"[6] इसके बाद जेनी का धर्म के प्रति नजरिया बदल जाता है। वह कहती है....... "खुदा का धर्म प्रेम है और इसी धर्म को स्वीकार करती हूँ। शेष धोखा है।"[7] इसके बाद बिल्कुल नाटकीय ढंग से वह घोषणा करती है कि वह योगराज के घर जाएगी और उसकी स्मृति शेष से ही

हवन-कुण्ड की परिक्रमा करके वह विवाह करेगी और आजीवन योगराज की पत्नी का धर्म निभाएगी। इस तरह इस नाटक का भी आदर्शात्मक अंत ही करते हैं प्रेमचंद जी।

पहले नाटक 'संग्राम' में सबलसिंह द्वारा दोबारा बेगार लागू करने पर या फिर फत्तू किसान को झूठे आरोप लगाकर जेल भेजवाने पर...... किसानों का जमींदार के खिलाफ आक्रोश, विद्रोह दिखाया जा सकता था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में इस समय तक श्रमिक और किसान बहुत जागरूक और संगठित हो चुके थे। सन् 1918 में खेड़ा और सन् 1920 में चम्पारण के किसान आंदोलनों ने भारतीय किसान को पूरी तरह से सजग कर दिया था। सन् 1921-22 तक आते-आते ये आंदोलन अत्यधिक तीव्र रूप भी धारण करने लगे थे। सन् 1922-23 तक भारत के औद्योगिक केन्द्रों में बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कानपुर और लाहौर प्रमुख थे, वहाँ साम्यवादी समूह तैयार होने लगे थे। इतना ही नहीं सन् 1920-21 में बम्बई, कलकत्ता, लखनऊ, अहमदाबाद और असम के चाय बगानों में बड़ी-बड़ी हड़तालें हुई। ज्यादातर मजदूर अपने संघों में संगठित होने लगे। अखिल भारतीय स्तर पर एक मजदूर संगठन बनाने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ और 30 अक्टूबर 1920 को बम्बई में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का पहला अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ। इस पर भी, प्रेमचंद सन् 1919 में बोल्शेविक उसूलों के कायल हो चुके थे तो फिर 'संग्राम' नाटक में किसानों की कायरता समझ में नहीं आती, और सबसे विशेष बात यह कि नाटक के अंत में सभी का हृदय-परिवर्तन हो जाता है।

नाटक में लम्बे-लम्बे संवाद और लम्बे आत्मकथन हैं। थोड़े परिवर्तन के बाद नाटक मंचन योग्य है। परन्तु उद्देश्य या कहें नाटक के नाम की सार्थकता यह है कि सभी पात्र अपनी अंतरात्मा में सत्य-असत्य, चरित्रता-दुष्चरित्रता, पाप-पुण्य, नीति-अनीति, प्रेम-द्वेष, काम-वासना के स्तर पर स्वयं से संग्राम करते हैं। अंततः त्याग, नीति, प्रेम, उत्सर्ग की विजय होती है। व्यवस्था परिवर्तन धरा-का-धरा रह जाता है। बस आत्म शुद्धता और उत्सर्ग से गाँव की व्यवस्था की बागडोर जमींदार सबलसिंह के हाथों से निकलकर गाँववालों के हाथों में आ जाती है। अतः युगीन-परिस्थितियों के अनुरूप यह नाटक युग-यथार्थ के चित्रण से भटक जाता है और गांधी के आत्मशुद्धि के चिंतन को ही सार्थक करने में प्रयत्नशील प्रमाणित होता है।

दूसरा नाटक कर्बला (1924) भी आदर्शवाद का ही प्रतिपादन करता है। स्वाधीनता संग्राम के दौरान धार्मिक सौहार्द को बल देने की दृष्टि से इस नाटक में कुछ हिन्दू व्यापारियों भीरुदत्ता एवं साहसराय का जिक्र आया है जो हुसैन का साथ देते हैं परन्तु यह अप्रासंगिक भी है। एक बात और भी कि हिन्दुओं में जो इस्लाम को लेकर नजरिया है उसे भी प्रेमचंद सही रूप में रखना चाहते थे, इस नाटक के माध्यम से। प्रेमचंद स्वयं लिखते हैं.... "....हुसैन की शक्ति न्याय और सत्य की शक्ति थी। यह केवल यजीद और हुसैन का संग्राम न था। यह इस्लामी धार्मिक जन-सत्ता का इस्लाम की राजसत्ता से संघर्ष था।....."[8] इस नाटक में पाँच अंक हैं, चौथे अंक में तो नौ दृश्य हैं। इस तरह दृश्यों, अंकों और कहीं-कहीं अत्यंत लम्बे-लम्बे संवादों के कारण मंचीयता की दृष्टि से नाटक सहज नहीं है। स्वगत कथन भी लम्बे-लम्बे हैं। पात्रों की संख्या लगभग तीस है जो कि मंचन की दृष्टि से अधिक है और अगर इस नाटक का मंचन हो तो करीब तीन घंटे लग जाएंगे। भाषा की दृष्टि से भी यह नाटक दर्शक के लिए बोझिल हो उठता है। इसका एकमात्र सफल बिन्दु इसका उद्देश्य है, सच्चाई के लिए बलिदान।

'प्रेम की वेदी' नाटक में अपेक्षाकृत रूप से पात्रों की संख्या कम है। इस नाटक में कुल नौ ही पात्र हैं। दृश्यों की दृष्टि से भी मंचन सरल है परन्तु संवाद

काफी लम्बे-लम्बे हैं। इस नाटक के संबंध में सबसे बड़ा अंतर्विरोध 'जेनी' के चरित्र में है। विवाह का विरोध करनेवाली जेनी पहली नजर में ही अपनी सहेली के पति पर अनुरक्त हो जाती है और उमा की मृत्यु के बाद योगराज के साथ रहने लगती है और अंत में धर्म की दुहाई देते हुए स्मृतिशेष योगराज के प्रेम को विवाह के बंधन में बाँधकर जीवन बीताने का निर्णय करती है। यह बिलकुल ही अव्यावहारिक-आदर्श की स्थापना है। पूरे नाटक में ऐसा लगता है कि जेनी और योगराज उमा की मृत्यु का ही जैसे इंतजार कर रहे थे। थोड़ा भी समय नहीं लगता दोनों को 'उमा' को भुलाने में। इस नाटक का शीर्षक तो जैसे 'प्रेम' का उपहास ही है। हाँ! जेनी को क्रिश्चन धर्म का दिखाकर प्रेमचंद जी ने शायद यह स्थापित करने की कोशिश की है कि 'प्रेम' में हिन्दू-क्रिश्चन धर्म कुछ नहीं होता। 'प्रेम' सर्वोपरि है। सबसे हास्यास्पद और दुःखद बात यह कि जो योगराज अपनी पत्नी के लिए कहता है, "....ईश्वर के लिए इन्हें किसी तरह बचा लीजिए। मैं उम्र भर आपकी गुलामी करूँगा, मुझे जीवन में वह विभूति मिल गई थी कि उसे खोकर अब संसार मेरी आँखों में सूना हो गया।.... यह घाव कभी न भरेगा!"[10] वही योगराज जेनी से कहता है..... "तुम मेरी उमा हो, जेनी! .....वही रूप-माधुर्य है, वही कोमलता है। तुम वही हो, ..."[11] योगराज जेनी से ऐसा प्रेम करता है कि, पत्नी की मृत्यु के बाद तो उसे कुछ नहीं होता किन्तु जेनी जब विवाह-प्रस्ताव ठुकरा कर चली जाती है तो उसके वियोग में योगराज की मृत्यु ही हो जाती है। भाषा, पात्रों की संख्या और मंचन की दृष्टि से यह नाटक अन्य दोनों नाटकों से सफल है परन्तु नाटक की कथा-वस्तु, नाटक के शीर्षक को कहीं न कहीं व्यंग्यात्मक बना देती है। मेरी दृष्टि में 'प्रेम' धर्म से महान है इस आदर्श की प्रस्तुति प्रेमचंद जैसा रचनाकर किसी अन्य प्रकार की कथा से कर सकता था। 'प्रेम की वेदी' में स्त्री-अस्मिता और प्रेम की महानता दोनों गंभीर-संवेदनशील मुद्दों का परिहास होता हुआ ही दिखता है। प्रेमचंद जैसे महान रचनाकार से एक पाठक को ऐसे में निराश होना पड़ता है और इस तरह यह नाटक प्रभाव की दृष्टि से एक कमजोर नाटक प्रमाणित होता है।

इसी समय जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों के माध्यम से भारतीय स्त्री के चरित्र को इतिहास के आलोक में एक शक्तिशाली, स्वनिर्भर चेतना से भर दिया। स्वाधीनता आंदोलन के संघर्षशील दौर में प्रसाद के नाटकों की ये स्त्रियाँ भारतवर्ष में सांस्कृतिक जागृति फैलाने का सूत्रधार बनती हैं। प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों में किसी न किसी ऐसे नारी पात्र की सर्जना हुई है जो देश और समाज को एक नई दिशा देता है। ये नारियाँ पराधीन देश की स्वाधीनता की कामना बनकर आती हैं, तो कहीं देश प्रेम की आहूति बनती हैं। प्रेमचंद के नाटकों के नारी पात्र इस दृष्टि से कहीं अपनी पहचान दर्ज नहीं करा पाते और ना ही उनके ये तीनों नाटक।

प्रेमचंद और प्रसाद का रचनाकाल वह कालखण्ड था जब स्वाधीनता आंदोलन और स्वाधीन-चेतना की जागृति का आंदोलन साथ-साथ चला। विदेशी दासता से मुक्ति, साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष, सर्वहारा वर्ग की जातीय पहचान के लिए संघर्ष और उत्थान के प्रयत्न स्वाधीनता आंदोलन के साथ-साथ इस दौर के साहित्य में भी रूपांतरित हुए। इस दौर के साहित्य में रूपांतरित और अभिव्यक्त स्त्री-पात्रों का स्वरूप परिवर्तनकारी है, विप्लवी है, पुरातन को टुकड़े-टुकड़े तोड़कर नवीन सृजन के लिए तैयार हैं ये। नई स्त्री की नई अवधारणा के सृजन का श्रेय प्रत्येक क्षेत्र में इसी कालखण्ड को है। प्रसाद जी की तितली (तितली), ध्रुवस्वामिनी (ध्रवस्वामिनी), जैनेन्द्र जी की मृणाल (त्यागपत्र) और स्वयं प्रेमचंद जी की सुमन (सेवासदन), धनिया (गोदान), सीलिया (गोदान), जालपा (गबन) इत्यादि की एक लम्बी फेहरिस्त है;..... इन सशक्त स्त्रियों ने

साहित्यिक आंदोलन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन के द्वार को खोलने का प्रयत्न किया, जिसने स्त्री सशक्तिकरण की नींव रख दी। परन्तु प्रेमचंद जी के नाटकों की स्त्रियाँ इनमें योगदान नहीं कर पातीं।

संग्राम नाटक की राजेश्वरी हो या ज्ञानी या फिर बूढ़ी काकी सलोनी न विरोध, न विद्रोह और ना ही किसी परिवर्तन का प्रयत्न। छद्म स्वाँग, आत्महत्या से ही जीवन पथ का निर्णय किया गया। 'प्रेम की वेदी' की जेनी, विचार और व्यवहार में अंतर्विरोधी व्यक्तित्व वाली है। उमा का नाटक में होना, न होना एक ही बात है। जेनी की माँ, अपने होनेवाले दामाद विलियम से ही विवाह कर लेती है। 'कर्बला' नाटक की कहानी तो इतिहास आधारित है, अतः इसके अंत के संबंध में कुछ कहना समीचीन न होगा। परन्तु 'संग्राम' और 'प्रेम की वेदी' नाटक का गठन और अंत प्रेमचंद जी ने क्यों ऐसा किया यह सोचनीय है। 'संग्राम' आदर्श उपन्यास बन गया है और 'प्रेम की वेदी' का अंत प्रेमचंद के उपन्यासों के उस साधु-नायक की तरह चौकानेवाला है जो अचानक गायब होकर अचानक प्रयोजनीयता पर प्रकट हो जाता है। ऐसा लगता है कि प्रेमचंद जी ने इन तीनों नाटकों की रचना हाथ आजमाने के लिए किया था। प्रेमचंद नाटककार के रूप में भले ही असफल रहे हों परन्तु उनका आदर्शवादी उपन्यासकार तीनों नाटकों के कथ्य और अंत में पूरी तरह उपस्थित रहा है।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। **2.** कमल किशोर गोयनका, प्रेमचंद विश्वकोश। **3.** संग्राम नाटक, प्रेमचंद रचनावली खण्ड 10, पृष्ठ संख्या-246। **4.** वही पृष्ठ संख्या-332। **5.** प्रेम की वेदी, प्रेमचंद रचनावली 10, पृष्ठ संख्या-372-373। **6.** वही पृष्ठ संख्या-411। **7.** वही पृष्ठ संख्या-415। **8.** कर्बला, प्रेमचंद रचनावली 10, पृष्ठ संख्या-193। **9.** प्रेम की वेदी, प्रेमचंद रचनावली 10, पृष्ठ संख्या-389। **10.** वही पृष्ठ संख्या-397। **11.** वही पृष्ठ संख्या-401।

सह-आचार्य, हिन्दीविभाग,
मणिपुर विश्वविद्यालय,
कांचीपुर, इम्फाल-795003
फोन : 9612826587, 9434308852

जब आपको अपरिचित स्वर्ग मिल सकता हो तो परिचित नर्क में रहने का विकल्प न चुनें।

विली जॉली

प्रशंसा अगर हो रही हो तो प्रसन्न नहीं, सावधान रहने की जरूरत है।

पाठक-मंच

क्या साहित्य की 'संजीवनी' सूख रही है?

जीवन को तरोताज़ा, सुरक्षित और गतिमान रखने वाली प्राण-शक्ति का नाम 'संजीवनी' है। जीवन, जब साहित्य में कलात्मक अभिव्यक्ति पाता है तब जीवन और कला परस्पर घुल-मिल कर एकात्म हो जाते हैं। यानी कला-शरीर के भीतर संस्कृति और अनुभूति की चेतना प्राणमयी होकर 'संजीवनी' के रूप में संस्कारशील रहती है। यदि अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ, जीवनानुभव रसहीन होने लगते हैं तो साहित्य भी विवर्ण, मृतप्राय सूखता हुआ-सा जान पड़ता है। शरीर के भीतर तंज और कान्ति का जो समाहित रूप है, वही साहित्य के भीतर संस्कृति, प्राचीन काल से चले आ रहे जीवन-मूल्य, लोकादर्श, शाश्वत जीवन-दर्शन, समाज को उत्प्रेरित करने वाले उदार व्यापक विचार-तत्त्व तथा उद्‌बोधनकारी उदाहरणीय सामाजिक प्रक्रिया के व्यवहार्य पक्ष होता है। प्राणियों के मन में, शाश्वत भाव से रहने वाले आलम्बन, उद्दीपन आदि तत्त्वों द्वारा उपचित होकर रस की संज्ञा धारण करते हैं और साहित्य को आह्लाद से भर देते हैं। यही आह्लाद स-हृदय पाठकों के मुरझाये मनों के भीतर दुबकी हुई निराशा, उदासी हटाकर, सुख-वैभव से परिपूरित कर देता है। जिस साहित्य में यह शाश्वत संजीवनी तत्त्व प्रकृति के व्यापक नियमों के अनुसार चलता रहता है, वह साहित्य नहीं मरता।

आजकल क्षणवाद, दुःखवाद, मृत्यु-दर्शन, लघुमानव, परायापन, अजनबीपन, कुण्ठा, संत्रास इत्यादि के जो भी रूप संकीर्ण दायरे में चित्रित हो रहे हैं, उसके कारण ऐसा महसूस होता है कि साहित्य की संजीवनी सूखती जा रही है। प्रयोगवाद, नई कविता, नवगीतों में यह वृत्ति अत्यन्त रूप से दिखाई पड़ती है। किन्तु कुँअर नारायण की 'आत्मजयी', दुष्यंत के 'एक कंठ विषपायी', जयशंकर की 'कामयनी', दिनकर की 'उर्वशी', निराला की 'राम की शक्ति पूजा' आदि का सजग अध्ययन करने से साफ हो जाता है कि साहित्य की 'संजीवनी' सूखने के स्थान पर अधिक रसपूर्ण को गई है। वास्तव में रचनाकार की व्यापक चिन्तना और उदार दृष्टि के आधार पर साहित्य की संजीवनी नित नूतन प्राणवत्ता का संचार करती रहेगी। आवश्यकता है 'रामायण', 'महाभारत', 'कुमारसंवभ', 'रामचरित मानस' जैसी कृतियों की भूमिका में अपने को तद्‌रूप करके साहित्यकार सांस्कृतिक संजीवनी-शक्ति के आधार पर साहित्य को मरने से बचा ले। संदर्भित प्रश्न की वैचारिक पड़ताल में प्रस्तुत हैं,

देश के प्रमुख साहित्यकारों के विचार :-

साहित्य की संजीवनी, जीवन की संजीवनी से इतर नहीं। -स्व. शंकर दयाल सिंह

"भाई मधुर नज्मी कैसे और क्या कहुँ इस संदर्भ में? मेरा मानना है कि साहित्य की शाश्वत संजीवनी कभी भी सूखती नहीं है, हाँ, उसमें गति-अवरोध अथवा तीव्रता संभव है। जिस संक्रमण काल में अभी हम जी रहे हैं, उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। अंततः कुछ मीठे कुछ तीते और खारे जल-कणों के छींटे पड़ते रहे हैं। दुनिया में शायद सबसे अधिक कवितायें लिखी गई हैं और कहानियाँ पढ़ी गई हैं और उपन्यासों को सर्वाधिक मान्यता मिली है। लेकिन इन दिनों ऐसी विधाओं के लिए पुस्तकों की अपेक्षा पत्रिकाओं की ओट में हम सत्य ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। यह भी स्वीकार्य है कि बड़ी पत्रिकाओं के होते हुए भी कुछ लघु पत्रिकाओं ने अपनी पहचान बनाई। उनमें एकाध हैं जिनका लक्ष्य है, उद्देश्य है, संकल्प है तथा कथ्य की स्पष्टता है। व्यावसायिक रूप से ऐसी पत्रिकायें सफल हैं या असफल, यह वैचारिक मुद्दा है लेकिन ऐसी पत्रिकाओं को लोग खोज-ढूँढकर पढ़ते हैं; खरीदते हैं और सहेजते हैं। मेरी अपनी समझ में इनमें साहित्य का शाश्वत-पक्ष संजीवनी के रूप में जीवित है। संजीवनी का अर्थ है, मृतकों को जिलाने की दवा या कार्य-साधक उपाय। संजीवनी आज भी साहित्य में बह रही है। यह दूसरी बात है कि उसका असर कम हो गया है। कारण, साध्य के लिये भी साधन की आवश्यकता होती है। साहित्य की संजीवनी का सीधा तात्पर्य साहित्यकार की अपनी साधना से है।

शहरी चाकचिक्य तथा काफी हाउसों तथा बारों की संस्कृति ने हमें दिया कम, हमसे लिया बहुत कुछ। आप का प्रश्न यहीं जाकर टिक जाता है, आप का प्रश्न यहीं सार्थकता से समन्वित हो जाता है। संजीवनी नहीं सूख रही है लेकिन उसकी धारा जरूर बदल रही है। कहाँ वेदों, पुराणों, उपनिषदों की पयस्विनी और कहां आज का संदर्भ? दोनों में अंतर होना ही होना है। साहित्य, समय और संदर्भ से कट-कर चल नहीं सकता। इसीलिए तो छायावादी कवियों की किसी जमाने में भर्त्सना हो गई थी। कहा गया कि जब चारों ओर स्वतंत्रता की लड़ाई का दावानल दहका हुआ हो, ऐसे में प्रेम, कल्पना, अज्ञात-आकर्षण और शब्दबेधी वाण कहाँ तक उचित हैं? आज भी साहित्य का पक्ष 'चरैवेति' हो न हो, चलायमान जरूर है, साहित्य की 'संजीवनी' बिल्कुल सूख नहीं रही है। अपनी गति और ढंग से बह रही है। साहित्य की 'संजीवनी' जीवन की संजीवनी से इतर नहीं है।"

संजीदा पाठक और लेखक इसके सूखने के यथार्थ की ताईद करते हैं। -सुरेश उपाध्याय

जब पूरे देश और दुनिया पर ही ग्रहण लगा हुआ हो तो भीषण और भयावह माहौल में, साहित्य की 'संजीवनी' को भला सूखने से कौन बचा पायेगा? जहाँ तक हिन्दी-साहित्य का सवाल है, वह तो और भी जियादः संकटापन्न सवालों के घेरे में घुट-घुट कर दम तोड़ने को अभिशप्त है। भाई मधुर जी, मैंने आप के वाजिब सवाल पर जब कतिपय लिखने-पढ़ने वाले सुधी, सदाशयी संजीदा लेखकों-पाठकों से यह सवाल किया जो अधिसंख्य ने इसके सूखने की ताईद की।

बांग्ला लेखिका आशापूर्णा देवी का लोकप्रिय और चर्चित उपन्यास 'प्रथम प्रतिश्रुति' (जो क्रमशः 'बकुल-कथा' और 'स्वर्ण-रेखा' शीर्षकों से अगल-अलग खण्डों में भी विभाजित है), तारा बाबू के 'गणदेवता' तथा शंकर के 'चौरंगी' की चर्चा ज़ियादातर लोगों ने की और साथ ही यह भी बताया कि पत्रिकाओं में प्रकाशन के ऐतबार से विमलमित्र का नाम सर्वोपरि है। मराठी लेखक शिवाजी सावन्त के 'मृत्युंजयी' का भी कोई जवाब नहीं, बातचीत के दौरान सर्वाधिक प्रशंसक इसी कर्ण-कथा के प्राप्त हुए हैं। कहने का मतलब यह कि जब मैं शाश्वत साहित्य के संदर्भ में कुछ यादगार रचनाओं के नाम की चर्चा

करता हूँ तो मुझे बांग्ला, गुजराती, मराठी के लेखकों के नाम गिनाये जाते हैं, हिन्दी रचनाकारों के नाम इन नामों के बाद ही आ पाते हैं। मूल हिन्दी में लिखे उपन्यासों की अपेक्षा इतर भाषा-भाषी लेखकों की रचनाओं के अनुवाद जियादह लोकप्रिय और 'बेस्ट सेलरों' की श्रेणी में आते हैं। हिन्दी-साहित्य की संजीवनी के सूखने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि चार-चार, पाँच-पाँच सौ साल बाद भी स्थापित हुए कुछ नामों में इज़ाफ़ा नहीं हो पाया है? सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, रहीम, रसखान, घाघ, घनानन्द, भड्डरी जैते नवरत्नों या नवग्रहों में हम 'नेपच्यून' या 'प्लूटो' जैसा एक भी ग्रह या रत्न चार-पाँच सौ वर्षों की लम्बी कालावधि में भी नहीं जोड़ पाये। शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय जैसे बाबू मोशाय जो 'चरित्रहीन' की प्रसिद्धि के बाद, शिखर पर स्थापित हो, 'आवारा मसीहा' के रूप में हिन्दी में पुनः प्रतिष्ठित होते हैं, बाबू विष्णु प्रभाकर की बेचैन और बेलाग क़लम के माध्यम से। जबकि हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासों 'चित्रलेखा' (भगवती चरण वर्मा), 'गुनाहों का देवता' (धर्मवीर भारती) के बाद पूरा मैदान ही साफ था, यदि व्यंग्य पैग़म्बर श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' को पूरे हिन्दुस्तान में शिवगंज के किरदारों के माध्यम से, जवाहर की भस्मी की तरह आकाश से हवाओं में बिखेर न दिया होता।

खैर भाई यह तो अपना-अपना नजरिया है जो व्यक्तिगत है। कितने लोग इसकी ताईद करेंगे, वह भविष्य के गर्भ में है। अतएव कुछ न कहते हुए हिन्दी के दीन-हीन साहित्य के लिये मैं गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में प्रार्थना-अभ्यर्थना कर रहा हूँ :- "मो सम दीन न दीन हित तुम समान रघुबीर, अस विचारि रघुवंशमणि हरहु विषम भव-पीर।"

साहित्यकार समाज के अन्तर्जगत में सह-सृजन करे। -प्रो. श्रीपाल सिंह 'क्षेम'

साहित्य की 'संजीवनी' उसकी 'स-हितता' में है। साहित्य का मूल, रचनाकार की 'व्यक्तिता' मात्र नहीं हो सकती, वह उसके उस व्यक्तित्व का प्रसार है जहाँ वह व्यक्ति-व्यक्ति, जन-जन और सर्वजन से अपने को जुड़ा अनुभव करता है, व्यक्तिता और उसकी निजी रुचि-अरुचियाँ नहीं, उसके विराटतर व्यक्तित्व का लोकमंगलकारी एवम् जन-हिताकांक्षी पक्ष ही साहित्य की रचना प्रक्रिया में जाकर व्यापक रूप से जन-सम्प्रेष्य और लोक-संवेद्य बनता है या यही मंगलमय आत्मीयता, साहित्य-कृति को हृदयस्पर्शी, बुद्धि-प्रभावक और सुरम्य रचना का रूप प्रदान करती है। जब भी किसी युग-काल की रचना-धर्मिता से यह आन्तरिक भाव-प्रभाव एवम् विश्वसनीयता-आत्मीयता क्षीण होने लगती है या युगधर्मी वाद-प्रभाव और सबसे अलग दिखने वाली नूतनता ही मौलिकता का पर्याय मान ली जाय, तो प्रतीत होने लगता है कि साहित्य-विशेष की 'संजीवनी' सूख रही है।

साहित्य की संजीवनी शक्ति सूख रही है, कथ्य के तात्पर्य का एक पक्ष यह भी हो सकता है कि तब हमें यह विचार करना होगा कि यदि विश्व भर का साहित्य इस रोग-विशेष से रुग्ण हो रहा है तो उसके कौन-से सार्वभौम कारण या कारक हैं, जिनसे साहित्य विकारग्रस्त हो उठा है? आज का युग विज्ञान, प्रोद्योग और प्रविधि का युग कहा जाता है जहाँ भौतिक विज्ञान, प्रौद्योगिक उपलब्धियों और रचना-प्रक्रिया की प्राविधिकता ने मानव-नीति एवम् आचार-विवेक को शीर्षता से अपदस्थ कर दिया है। आज का साहित्यकार भी नित्य-नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों तथा उपलब्धियों से इतना अभिभूत होता जा रहा है कि वह धर्म, नैतिकता, संस्कृति, आचार एवम् चारित्र्य को गौण अथवा अप्रासंगिक मान बैठा है। भौतिक भोगवाद ने एक संकीर्ण एवम् छिछले उपयोगवाद की 'उपभोक्ता-संस्कृति' को जन्म दे दिया है, जहाँ व्यक्ति के लिए निजी स्वार्थ, व्यक्तिगत अनुभूति, सम्वेदना तथा आत्म-भोग ही सर्व-प्रमुख हो उठा है।

ऐसी स्थिति में एक 'वैज्ञानिक नियतिवाद' की काली छाया तले साहित्य-धर्मा और साहित्य-कर्मा भी

अपनी रचनात्मकता को भूलता जा रहा है। साहित्य-रचना, बाहर से भाषाबद्ध, लयबद्ध, शिल्प-बद्ध एवम् भीतर से साहित्यकार की आन्तरिक प्रतिच्छाया के सहयोग से पाठक-समुदाय में भी अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव-रचना करने वाली कृति भी है। पाठकों के मन और चेतना में नव-सर्जन एवम् अनुकूल सृष्टि करने वाली साहित्यकार-गत इसी सिसृच्छा का आज अभाव परिलक्षित होने लगा है। साहित्यकार समाज के अन्तर्जगत में सह-सृजन करे, वह सार्वजनिक जीवन और 'आम आदमी' के जुड़ाव-केन्द्र में रहे, तभी साहित्य की 'संजीवनी' जीवित रह सकती है अथवा सूखने से बच सकती है।

थोड़े-से लोग साहित्य रचते ही नहीं वरन् जीते हैं। -यश मालवीय

जब तक एक भी रचनाकार पूरी ईमानदारी और संबुद्धता से रचना-धर्मिता से जुड़ा हुआ है, मुझे नहीं लगता कि साहित्य की 'संजीवनी' सूख सकती है। यह सही है कि साहित्य के मूल्यों में गिरावट आयी है, साहित्य मनोरंजन का साधन होता जा रहा है, आज का साहित्यकार कदम-कदम पर समझौते करता जा रहा है। आज साहित्य के नाम पर पत्र-पत्रिकाएँ क्या-क्या परोस रही हैं? आज का काव्य-मंच विदूषकों के हवाले हो चुका है। अन्य क्षेत्रों की तरह साहित्य में भी अराजकता का माहौल परिव्याप्त है तथापि कुछ जेनुइन रचनाकार जो सतत् सारस्वत-साधना में रत हैं, वे लगातार अपने भीतर एक कसमसाहट का अनुभव करते रहते हैं, वे डेढ़ पंक्ति लिखकर ब्रह्म बने नहीं घूमते। वे अनवरत लिखकर भी न रच पाने की पीड़ा से ग्रस्त रहते हैं और यही आत्मिक पीड़ा उनसे लिखवाती चली जाती है। समकालीन कविता के रचनाकार हरीशचन्द पाण्डेय की ये पंक्तियाँ मेरे कथ्य की आईनादारी करती हैं, "आज सुबह ही मैंने / एक बहुत अच्छी कविता पढ़ी थी/ जितने में छापी है कविता /क्या उतना गंदा पानी छँट गया," मेरे मन में भी संदर्भित कवि की तरह ही शंका सिर उठाती है, लेकिन अगले ही क्षण भीतर से उत्तर आ जाता है, हाँ, अभी कविता या साहित्य के छपने से गंदला पानी छँटता है। भाई मधुर नज्मी जी ! आप कह सकते हैं कि तुम बीमार होने की सीमा तक आशावादी हो। पर वह साहित्य की 'संजीवनी' ही है जो मन को थकने नहीं देती। साहित्य के सार्थक नाम हमेशा से नेपथ्य में रहे हैं पर नेपथ्य की अपनी भूमिका होती है। कई बार लोग ईमानदार रचनाकार को अनदेखा कर देते हैं। देखते भी हैं तो आग्रही चश्मा चढ़ाकर या उन्हें मोतियाबिन्द की तरह कुछ का कुछ दिखाई पड़ता है। वे उस रचनाकार को ठीक से पहचान नहीं पाते, समझ नहीं पाते या पहचानते भी हैं तो शक्ल बिगाड़कर। ऐसे में शायर एहतराम इस्लाम की कविता एक आत्मिक संबल देती है, "मेरे अस्तित्व की महत्ता को / अन्ततः मान तो रहे हैं लोग/ चेहरा बिगाड़ कर ही सही/ मुझको पहचान तो रहे हैं लोग।" सर्मपित, संघर्षशील कलाकारों के लिये साहित्य ही जीवन-मूल्य होता है। उनका सार्थक संघर्ष उनकी रचना धार्मिता को धार देता है, वे मुश्किलात के सामने घुटते नहीं टेकते क्योंकि साहित्य की 'संजीवनी' उनमें प्राण फूँके रहती है।

डॉ. मधुर नज्मी
काव्यमुखी साहित्य-अकादमी गोहना
मुहम्मदाबाद, जिला मऊ - 276403 (उ. प्र.)
मो. 09369973494

भारत

वर्ष 1882 में इंग्लैंड में भारतीय सिविल सेवा के लिए चयनित प्रतिभागियों के समक्ष प्रसिद्ध भारत-विद् मैक्समूलर द्वारा दिया गया उद्बोधन -

मैं यह सिद्ध करने की कोशिश नहीं करूंगा कि संस्कृत साहित्य यूनानी साहित्य के समान है। हमें हमेशा तुलना क्यों करनी चाहिए? यूनानी साहित्य के अध्ययन का अलग मकसद है और संस्कृत साहित्य के अध्ययन का अलग। लेकिन मैं आशा करता हूं

कि मैं आपको यह विश्वास दिला दूंगा कि संस्कृत साहित्य को सही भावना से यदि पढ़ा जाए तो वह मानवीय रुचि से भरपूर है, ऐसी शिक्षाओं से भरपूर है जो यूनानी भी हमें नहीं सिखा पाए।

यदि मैं संसार में किसी ऐसे देश की तलाश करूं जहां प्रकृति ने पृथ्वी के किसी हिस्से में सम्पत्ति, शक्ति और सुंदरता का वरदान दिया है तो मैं भारत की ओर इंगित करूंगा। यदि मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के नीचे मानव मस्तिष्क ने अपने श्रेष्ठतम वरदानों को अत्यंत पूर्णता से विकसित किया है और जीवन की महानतम समस्याओं पर अत्यंत गहन चिंतन किया है और कुछ ऐसे प्रश्नों का हल पा लिया है जो उन लोगों का भी ध्यान आकर्षित कर सकता है, जिन्होंने प्लेटो और कांट का अध्ययन किया है तो मैं भारत की तरफ इशारा करूंगा और यदि मुझसे कोई पूछे कि हम यूरोप के रहने वालों को, जिन्हें यूनानियों, रोमनों और यहूदियों के विचारों पर लगभग पूरी तरह से पोषित किया गया है, उन्हें किस साहित्य से ऐसी सीख मिलेगी जिसकी बहुत जरूरत है ताकि हम अपना आंतरिक जीवन अधिक पूर्ण, अधिक व्यापक, अधिक वैश्विक, वास्तव में अधिक मानवीय और न सिर्फ वर्तमान जीवन बल्कि एक शाश्वत जीवन बना सकने वाली सीख प्राप्त कर सकते हैं तो मैं फिर से भारत की ओर इशारा करूंगा।

जिन लोगों ने अपने सक्रिय जीवन के कई साल कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में बिताए हैं वे इस विचार से सिहर जाएंगे कि वे जिन लोगों से वहां बाजारों में, या अदालतों में या तथाकथित देशज समाज में मिले, वे हमें कुछ सिखा सकते हैं! मैं स्पष्ट करना चाहूंगा कि हम अलग-अलग भारत के बारे में बात कर रहे हैं। मैं मुख्यतः उस भारत के बारे में सोचता हूं जैसा वह एक, दो हजार और शायद तीन हजार साल पहले था। मैं ग्राम्य समुदायों वाले भारत को देखता हूं जो सच्चा भारत है।

यदि आपकी यहां इंग्लैंड में कोई विशेष रुचि बन गई है तो उसकी तुष्टि के लिए भारत में बहुत सामग्री मिलेगी। यदि आपकी भूगर्भशास्त्र में रुचि है तो आपके लिए हिमालय से सीलोन तक काम है। यदि आप वनस्पतिशास्त्र के शौकीन हैं तो समृद्ध वनस्पतियां हैं, जिन पर हूकर जैसे कई विद्वान काम कर सकते हैं। यदि आप प्राणिशास्त्री हैं तो हैकल (अर्नेस्ट हैकल, जर्मन प्राणिशास्त्री) के बारे में सोचिए जो अभी भारतीय वनों की यात्राएं कर रहा है और भारतीय समुद्रों में खोजबीन कर रहा है और जिसे लग रहा है कि भारत में रहने से उसके जीवन का सबसे उज्ज्वल स्वप्न साकार हुआ है। यदि आप नृतत्वशास्त्र में रुचि रखते हैं तो भारत एक नृतत्वशास्त्रीय संग्रहालय है। यदि आप पुरातत्व के शौकीन हैं और आपने इंग्लैंड में किसी उत्खनन में सहायता की है और कचरे के ढ़ेर में से एक फाइबुला, चाकू या पत्थर का टुकड़ा पाने का आनंद जानते हैं तो केवल जनरल कनिंघम की आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्टस पढ़िए। आप उस क्षण की व्यग्रता से राह देखेंगे कि आप कब भारत के बौद्ध शासकों द्वारा बनवाए गए विहारों और महाविद्यालयों को अधिक प्रकाश में लाने के लिए अपना फावड़ा उठाएं।

यदि आप सिक्के जमा करने के शौकीन हैं तो भारत में ईरानी, कैरियन, थ्रेसियन, पार्थियन, ग्रीक, मेसिडोनियन, सीथियन, रोमन और मुस्लिम सिक्कों की भरमार है। जब वॉरेन हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल था तो बनारस में एक नदी के किनारे एक मटका मिला था जिसमें 172 स्वर्ण डेरिक्स थे। वॉरेन हेस्टिंग्स ने सोचा कि वह इन सिक्कों को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर को प्रस्तुत करके अपने स्वामियों को श्रेष्ठ उपहार दे सकेगा। कहानी यह है कि ये सिक्के गला दिए गए। जब वॉरेन हेस्टिंग्स लौटा तो वे सिक्के गायब हो चुके थे। एशियाटिक सोसायटी बंगाल के अंतिम अंकों में से एक में आप पढ़ सकते हैं कि एक खोज में प्राप्त कोष इतना सम्पन्न था जितना मेकेना में डॉ. श्लीमेन

के द्वारा खोजे गए किसी मकबरे में पाया गया था।

पुराकथाओं के अध्ययन ने भारत में ही पुनर्जीवन प्राप्त किया और यहां से विभिन्न समय पर विभिन्न माध्यमों से ये पुराकथाएं पूर्व से पश्चिम को गईं। अब ऐसा माना जाता है कि बौद्ध धर्म हमारी दंतकथाओं और नीतिकथाओं का मुख्य स्रोत रहा है। किंतु यहां भी कई समस्याएं अपने निदान की प्रतीक्षा कर रही हैं। उदाहरण के लिए सिंह की खाल पहने गधे की कथा के संकेत पर गौर करें, जिसका उल्लेख प्लेटो की केटिलस में आता है। क्या यह पूर्व से उधार लिया गया था? या फिर उस नेवले की कहानी लें जिसे एफ्रोडाइट ने स्त्री बना दिया था और जब उसने चूहे को देखा तो उसे लपकने से अपने को रोक न सका। यह भी संस्कृत के एक आख्यान के समान है।

वहीं यदि आप न्यायशास्त्र के छात्र हैं तो भारत में कानून का इतिहास तलाशा जा सकता है। धर्म की बात करें तो उसके सच्चे उद्‌गम को, उसकी स्वाभाविक वृद्धि को और उसके अपरिहार्य ह्रास को भारत से ज्यादा कहीं अध्ययन नहीं कर सकते। आप स्वयं को भारत में हर स्थान पर घोर अतीत और सुदूर भविष्य के बीच पाएंगे, और यहां ऐसे अवसर मिलेंगे, जैसे कि पुरानी दुनिया में शायद ही कभी मिल सकते थे। आज के किसी भी ज्वलंत प्रश्न को ले लें लोक शिक्षा, उच्च शिक्षा, संसदीय प्रतिनिधित्व, विधि संहिता, वित्त, आव्रजन, गरीबों का कानून और आपको चाहे कुछ भी पढ़ना या आजमाना हो, या कुछ भी देखना हो या सीखना हो, भारत आपको ऐसी प्रयोगशाला देगा जो अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

जिस संस्कृत का अध्ययन आपको शुरू में बहुत नीरस और निरर्थक लग सकता है, उसे यदि आप जारी रखें तो आपके सामने साहित्य की वे विशाल परतें खुलेंगी, जो अभी तक अनजानी और अज्ञात हैं। इससे आपको अपना चिंतनीय स्तर बनाने में ऐसी अंतर्दृष्टि मिलेगी, जो आपके पहले के ज्ञान से ज्यादा होगी और ऐसी श्रेष्ठ सीखें मिलेंगी जो मानवीय हृदय की गहन सहानुभूतियों को प्रभावित करती हैं।

प्रेषक - बसंत कौशिक
40, देवनगर, मुरलीपुरा, जयपुर (राज.)

इकतारा

संतों के हाथ में 'इकतारा' होता है, एक सीधा सरल तार वाय। उसी के झंकार में उनके भाव भजन उमड़ते हैं। 'इकतारा' यह तो अंतः साधना है, जिसकी बाहर झण्कार है।

सत गुरु सबदे रे सतव्रत साधिए रे
आराधिए अंतर आतमराम।

साधक सद्‌गुरु के शब्द पर जैसे ही चला तो सतव्रत साधा। सतव्रत का अर्थ है-- सत्विचार, सत् वाणी और सत् वर्णन तीनों का सीध में आ जाना। तीनों अब सीध में है। जैसा विचार, वैसी वाणी, जैसी वाणी वैसा आचरण। जबकि दुनिया में बात और विचार और, कथनी और करनी कुछ और। तीनों में मेल नहीं। यह कुटिलता है, यही जटिलता है। जबकि संतों का मार्ग सीधा। स्वभाव सीधा। और हाथ में बस 'इकतारा'-- यानी जीवन में सादगी, सच्चाई, सिधाई-- तीनों एकाकार! ऐसा 'इकतारा' भीतर बजता है तब गाता है कोई--

सबद झण्कारा है / कर नैनां दीदार / महल में प्यारा है
खुल गए भरम किंवार / सबद झणकारा है।

‘हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान’ पुस्तक का लोकार्पण

प्रकाशक-- भारतीय विद्या मंदिर, 12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी, कोलकाता-700087,
ईमेल-bvm.vaichariki@gmail.com,
दूरभाष - 033-71001614, मो. 9830559364, प्र. संस्करण 2023, पृ.सं.-- 352,
मूल्य-800/-, ISBN : 978-81-89302-64-1
संपादक-- डॉ. बाबूलाल शर्मा

7 अक्टूबर, कोलकाता : स्थानीय भारतीय संस्कृति संसद सभागार में भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता द्वारा प्रकाशित पुस्तक ‘हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान’ का लोकार्पण वरिष्ठ कथाकार श्री सिद्धेश द्वारा किया गया। इस अवसर पर संस्था की ओर से श्री सिद्धेश एवं वरिष्ठ कवियों सर्वश्री रामेश्वरनाथ मिश्र अनुरोध, लखबीरसिंह निर्दोष, विद्या भंडारी तथा सुरेश चौधरी को संस्थाध्यक्ष डॉ. बिट्ठदास मूंधड़ा ने शॉल ओढ़ाकर तथा स्मृति चिह्न देकर सम्मानित किया। पुस्तक के सम्पादक डॉ. बाबूलाल शर्मा ने बताया कि 1983 में डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित पुस्तक हिन्दी भाषा साहित्य : बंगीय भूमिका के कार्य को आगे बढ़ाते हुए पूर्व में भारतीय विद्या मन्दिर एवं भारतीय संस्कृति संसद द्वारा आयोजित हुई तद्‌विषयक सेमिनार में पढ़े गये आलेख इस पुस्तक में संकलित हैं जिनमें बंगाल में हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में हुए और हो रहे अद्यत्तन लेखन को विभिन्न लेखकों-लेखिकाओं ने अपने लेखन में समेटा है। डॉ. शर्मा ने कहा कि बंगभूमि को यह श्रेय प्राप्त है कि यहां से ही हिन्दी (खड़ी बोली) को पूरे भारत की संपर्क भाषा मानकर उसे राष्ट्रभाषा के रूप में तथा देवनागरी लिपि को उसकी लिपि के रूप में मान्यता देने की मांग उठी। वस्तुतः हिन्दी भाषा-साहित्य के आधुनिककाल का प्रारंभिक इतिहास कोलकाता में ही घटित हुआ और यहीं इसके विकास ने गति पकड़ी। हिन्दी भाषा-साहित्य के विकास में बंगाल का अवदान स्तुत्य है।

लोकार्पण-कर्त्ता एवं समारोह अध्यक्ष श्री सिद्धेश ने कहा कि ‘हिंदी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान’ पुस्तक के समस्त गवेषणा मूलक आलेखों से सम्मिलित इस ऐतिहासिक ग्रंथ के पुनीत लोकार्पण के अवसर पर आप सब विद्वज्जन, लेखकों, शोधार्थियों का हार्दिक अभिनंदन। इस ऐतिहासिक दस्तावेज के तथ्यों और संग्रहित विषयगत अनेक विवरणों के मद्धेनजर कविता-कहानी-निबंध-नाटकों आदि के विषय में जानकारी अभिवर्धित होती है। प्रत्येक विषय का अपना गवेषणात्मक विस्तार होता है, समय-समय पर इनके विभेद होते हैं जिससे अन्तरद्वन्द्व की गुंजाइश भी होती है। साहित्य और संस्कृति के विस्तार का पता तब चलता है जब उनसे सम्बद्ध हुआ जाता है। इस पुस्तक में सम्मिलित आलेखों में इनकी खोज-बीन हुई है और रचनाकारों की नामावलि के साथ उनके अवदान की विशद चर्चा है। इससे बंगाल में हिंदी साहित्य की एक मुकम्मल तस्वीर बनती है। बांग्ला और हिंदी दोनों, संस्कृत की सहोदर भाषाएं हैं। जहां तक हिंदी और बांग्ला के बीच जो आदान-प्रदान हुआ, उसकी रूपरेखा इन आलेखों में उपलब्ध है। इस आदान-प्रदान में अनुवाद की महत्वपूर्ण भूमिका है।

बांग्ला से हिंदी में अनुवाद जितने हुए हैं हिंदी से बांग्ला में नहीं हुए। इसकी शिकायत अधिकतर हिंदी के मूर्धन्य साहित्यकारों की तरफ से हुई है। लेकिन यह आंशिक सत्य है। क्योंकि हिंदी से बांग्ला में भी कई ग्रंथों के अनुवाद हुए हैं। बांग्ला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचन्द्र पर विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखी पुस्तक ‘आवारा मसीहा’ का बांग्ला में ‘छन्नछाड़ा’ शीर्षक से अनुवाद हुआ है। शिवप्रसाद सिंह के पुरस्कृत उपन्यास ‘नीला चांद’ का अनुवाद ‘नील चांद’ के नाम से हुआ है (इसकी अनुवादिका रमा वर्मा हैं।) इसी तरह ‘कल्पतरु की उत्सव लीला’ (डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र) का अनुवाद बांग्ला में सन्ध्या चौधरी ने किया है। अतः भाषागत व्यवधान से

हटकर हम एकजुट होकर अनुवादों के माध्यम से भारतीय साहित्य के भंडार को समृद्ध करें, यही कामना है।

उपरोक्त ग्रंथों के अलावा अगर हम अन्य छिटपुट रचनाओं (जिनमें कहानियां शामिल हैं) की बात करें तो मेरी जानकारी में इनके अनुवाद भी छपते रहे हैं। इनके संग्रह 'निर्वाचित हिंदी गल्पो' तथा 'भारतीय भाषार गल्पो' शीर्षक से (1955 एवं 1958 में) प्रकाशित हुए हैं। हिंदी और बांग्ला भाषा के जानकार व्यक्तियों ने समय-समय पर बांग्ला की पत्रिकाओं के लिए अनुवाद किये हैं जिनमें कई बांग्ला की श्रेष्ठ पत्रिकाएं हैं। 'देश, 'कृतिवास', 'परिचय', 'कौरव', 'चतुरंग', 'अमृत' जैसी श्रेष्ठ पत्रिकाओं ने इन्हें छापकर प्रशंसा अर्जित की। संपादक सागरमल घोष ने 'देश' पत्रिका के अंकों में प्रत्येक माह एक भारतीय कहानी का अनुवाद तीन सालों तक प्रकाशन किया जिनमें हिंदी के अलावा अन्य प्रमुख भारतीय भाषाएं भी शामिल थीं। तत्पश्चात् इनका संग्रह बांग्ला के 'देज पब्लिशर्स एण्ड मॉडेल पब्लिशर्स' ने छापा। 22 जून 1979 का 'अमृत' साप्ताहिक का पूरा अंक हिंदी कहानियों के लिए समर्पित था जिनमें हिंदी की दस कहानियां थीं। इसी प्रकार हिंदी में सुपरिचित रचनाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह द्वारा संपादित 'पाकिस्तानी कहानियां' तथा हिंदी में प्रकाशित मैथिली भाषा की पुस्तक 'मरियल पेड़' का बांग्ला अनुवाद हुआ। इनका बांग्ला अनुवाद श्रीमती शैली सरकार ने किया। हिंदी-बांग्ला दोनों भाषाओं के बीच आदान-प्रदान का यह सिलसिला अनिवार्य रूप से चलते रहना चाहिए। आज लोकार्पित ग्रंथ 'हिंदी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान' के माध्यम से बहुत महत्वपूर्ण कार्य हुआ है इसके लिए प्रकाशक व संपादक तथा समस्त लेखक बधाई के पात्र हैं।

तत्पश्चात् पुस्तक के लेखकों-लेखिकाओं सर्वश्री डॉ. ओमप्रकाश पांडेय, डॉ. कमला प्रसाद द्विवेदी, श्यामलाल उपाध्याय, श्रीनिवास शर्मा, विवेक गुप्त, जितेन्द्र धीर, डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी, सत्येंद्र पाण्डेय, डॉ. अभिज्ञात, डॉ. रुद्राक्षा पांडेय मिश्रा, जीवन सिंह, डॉ. जलज भादुड़ी, डॉ. गीता दूबे, डॉ. सूफिया यास्मिन, डॉ. इतु सिंह, रावेल पुष्प, आनन्द श्रीवास्तव, सिद्धेश, डॉ. दाउलाल कोठारी, डॉ. वसुंधरा मिश्र, गीतेश शर्मा, प्रो. मंजुरानी सिंह, लक्ष्मीकुमार जायसवाल में से उपस्थितों को अंग-वस्त्र एवं स्मृति-चिह्न अर्पित कर संस्था के उपाध्यक्ष श्री राजगोपाल सुरेका एवं सचिव श्री शंकरलाल सोमानी ने सम्मानित किया। संस्थाध्यक्ष डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा ने उपस्थित महानुभावों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए बताया कि इस पुस्तक के संपादक एवं राजस्थान में भागवत धर्म, गणगौर गवरजा, राजस्थानी लोकगीत, स्वातंत्र्योतर हिंदी कहानी में मानवीय मूल्य इत्यादि पुस्तकों के लेखक तथा संस्था की द्वैमासिक शोधपत्रिका वैचारिकी के गत 27 वर्षों से सम्पादक डॉ. बाबूलाल शर्मा संस्था से 1972 ई. से ही जुड़े हुए हैं और साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में शोध-कार्य एवं शोध-कर्ताओं के मार्गदर्शन के रूप में आपका उल्लेखनीय योगदान है।

कार्यक्रम के दूसरे चरण में हुए कवि-सम्मेलन में सम्मिलित कवियों-कवयित्रियों सर्वश्री सिद्धेश, रामेश्वरनाथ मिश्र अनुरोध, लखबीरसिंह निर्दोष, विद्या भंडारी, सुरेश चौधरी इंदु, योगेन्द्र शुक्ल सुमन, चन्द्रिकाप्रसाद पाण्डेय अनुरागी, रावेल पुष्प,नन्दलाल रोशन, रविप्रताप सिंह, सविता पोद्दार,जीवन सिंह, मौसमी प्रसाद, मधु सिंह को अंग-वस्त्र एवं स्मृति चिह्न अर्पित कर संस्था के उपाध्यक्ष श्री राजगोपाल सुरेका ने सम्मानित किया। कोलकाता महानगर के कोने-कोने से आये कविगण ने कविता पाठ कर श्रोताओं की प्रसंशा अर्जित की।

X X X X X X X X X X X X X X X

1983 में श्री रामव्यास पांडेय के उद्योग से डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र के सम्पादन में 'हिन्दी साहित्य : बंगीय भूमिका' ग्रंथ का प्रकाशन हुआ था, जिसका द्वितीय संस्करण भारतीय विद्या मंदिर ने 2014 में प्रकाशित किया था। वस्तुतः यह 1983 में प्रकाशित ग्रंथ का पुनर्मुद्रण मात्र था और उसे अद्यतन करने की खासी जरूरत थी।

इसी को ध्यान में रखकर भारतीय विद्या मंदिर एवं भारतीय संस्कृति संसद ने 'हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगीय योगदान' पर दो दिवसीय राज्यस्तरीय सेमिनार का आयोजन किया था, जिसमें बंगाल में हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक विकास एवं उसकी विभिन्न विधाओं से संबंधित बंगाल के अद्यतन योगदान पर विभिन्न लेखकों-लेखिकाओं ने अपने शोध-पत्र प्रस्तुत किये थे। ये शोध-पत्र ही अब सेमिनार के संयोजक डॉ. बाबूलाल शर्मा के सम्पादन में 'हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान' शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। इस ग्रंथ में डॉ. ओमप्रकाश पांडेय के दो लेखों में बंगाल में हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक परिदृश्य तथा हिन्दी साहित्य सृजन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। डॉ. कमला प्रसाद द्विवेदी ने बंगाल में हिन्दी मुद्रण के प्रारम्भ होने से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारी दी है, जिससे ही साहित्य सृजन का तेजी से विकास हुआ। डॉ. द्विवेदी ने अपने दूसरे लेख में हिन्दी के जीवनी साहित्य में बंगीय अवदान का विवरण प्रस्तुत किया है। बंगाल में हिन्दी की पठन-पाठन परम्परा प्रारम्भ हुई जिसका हिन्दी भाषा-साहित्य के विकास में आधारभूत योगदान है, इस पर श्री श्यामलाल उपाध्याय ने अपने लेख में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। कलकत्ता से हिन्दी के प्रथम समाचार पत्र का प्रकाशन हुआ और यहीं हिन्दी पत्रकारिता का प्रारम्भिक विकास हुआ। ग्रंथ में बंगाल में हिन्दी पत्रकारिता पर सर्वश्री श्रीनिवास शर्मा, विवेक गुप्त, जितेंद्र धीर, डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी एवं सत्येंद्र पांडेय के लेख सम्मिलित हैं। बंगाल में हिन्दी काव्य सृजन पर डॉ. अभिज्ञात, डॉ. रुद्राक्षा पांडेय मिश्रा एवं श्री जीवन सिंह के आलेखों के साथ डॉ. जलज भादुड़ी का हिन्दी काव्य में रवीन्द्र का अवदान शीर्षक से रोचक आलेख सम्मिलित है। बंगाल में हिन्दी कहानी एवं उपन्यास सृजन पर क्रमशः डॉ. गीता दूबे एवं श्री आनन्द श्रीवास्तव के शोध-पत्र हैं। कोलकाता हिन्दी नाट्य सृजन एवं रंगमंच का बड़ा केंद्र रहा। इस विषय पर डॉ. सूफिया यास्मिन, डॉ. इतु सिंह एवं श्री रावेल पुष्प द्वारा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी में बांग्ला कृतियों का सर्वाधिक अनुवाद हुआ। इस ग्रंथ में बांग्ला-हिन्दी अनुवाद की प्रवृतियां एवं हिन्दी-बांग्ला अनुवाद का मूल्यांकन क्रमशः श्री सिद्धेश एवं डॉ. रेशमी पांडा मुखर्जी ने प्रस्तुत किया है। श्री दाउलाल कोठारी का आलेख रवीन्द्र संगीत का समस्वर हिन्दी गीतांतर अपने-आप में अलग महत्व का है। डॉ. वसुंधरा मिश्र ने हिन्दी साहित्य पर बांग्ला साहित्य के प्रभाव का विस्तृत विवेचन अपने लेख में प्रस्तुत किया है। ग्रंथ में श्री गीतेश शर्मा ने अपने लेख में कलकत्ता के हिन्दी जगत को लेकर अपने रोचक संस्मरण प्रस्तुत किये हैं। इसी तरह प्रो. मंजुरानी सिंह ने अपने लेख में कविगुरु रवीन्द्र के शांतिनिकेतन में हिन्दी भवन की स्थापना का रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट में बंगाल की हिन्दी सेवी संस्थाओं एवं हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की जानकारी दी गयी है, जो इस ग्रंथ के महत्व को और बढ़ाती है।

ग्रंथ के आवरण पर दी गयी पंक्तियां ध्यान आकर्षित करती हैं-- इस पुस्तक के शीर्षक 'हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान' में हिन्दी के वाक्य में बांग्ला विभक्ति का प्रयोग ('बंगाल का' की जगह 'बंगालेर') हिन्दी भाषियों को अन्य भारतीय भाषाओं को जानने समझने का अभिप्रेरक है। प्रस्तुत ग्रंथ में बंगाल में हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में अद्यत्तन हुए लेखन को विभिन्न लेखकों-लेखिकाओं ने अपने लेखन में समेटा है। इससे यह ग्रंथ एक ऐतिहासिक दस्तावेज का दर्जा प्राप्त कर लेता है।

-रावेल पुष्प
ईमेल : rawelpushp@gmail.com
मो. 9434198898

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।

बांये से- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा, श्रीमती विद्या भंडारी, श्री सिद्धेश, श्री अनुरोध, डॉ. निर्दोष, श्री सुरेश चौधरी, डॉ. बाबूलाल शर्मा, श्री शंकरलाल सोमानी

श्री राजगोपाल सुरेका
व
श्री शंकरलाल सोमानी
द्वारा
लेखकों का
सम्मान

श्री रावेल पुष्प

डॉ. अभिज्ञात

डॉ. गीता दूबे

डॉ. इतु सिंह

डॉ. रेशमी पाण्डा मुखर्जी

डॉ. सूफिया यास्मीन

श्री आनंद श्रीवास्तव

श्री जीवन सिंह

श्री सत्येंद्र पाण्डेय

From
BHARATIYA VIDYA MANDIR
12/1, Nellie Sengupta Sarani
Kolkata - 700087 *(W.B.)*

TO

G.D.M.
PUBLIC SCHOOL
Near, Govt. DIET Office, Pugal Road, Bikaner
Admission Open for Nursery to 10th
Session - 2023-24

G.D.M. Public School
Pugal Road, DIET. Office, Bikaner
(Rajsthan) Pin - 334004
E-mail : gdmpublicschool1342@gmail.com

M. 7977715540